मूलाचार

अनुक्रमणिका

001) मंगलाचरण
002-003) मूलगुण के नाम
004) महाव्रतों के नाम
005) अहिंसा महाव्रत
006) सत्य महाव्रत
007) अचौर्य महाव्रत
008) ब्रह्मचर्य महाव्रत
009) परिग्रह महाव्रत
010) समिति के नाम
011) ईर्या समिति
012) भाषासमिति
013) एषणा समिति
014) आदान निक्षेपण समिति
015) प्रतिष्ठापन समिति
016) इन्द्रिय निरोध व्रत
017) चक्षु इन्द्रिय निरोध व्रत
018) श्रोत्रेन्द्रिय निरोध व्रत
019) घ्राणेन्द्रिय निरोध व्रत
020) रसनेन्द्रिय निरोध व्रत
021) स्पर्शनेन्द्रिय निरोध व्रत
022) षट् आवश्यक क्रिया
023) सामायिक
024) स्तव
025) वन्दना
026) प्रतिक्रमण
027) प्रत्याख्यान
028) कायोत्सर्ग
029) लोच मूलगुण
030) अचेलकत्व
031) अस्नान
032) क्षितिशयन
033) अदंतधावन
034) स्थितिभोजन
035) एकभक्त
036) मूलगुणों का फल
037-038) वृहत् प्रत्याख्यान अधिकार का मंगलाचरण
039) दुश्चरित का त्याग
040-041) उपाधि का त्याग
042) अब्रह्मचर्य के भेद
043) किसी के साथ बैर नहीं
044) बैर के निमित्त
045) स्व का ग्रहण और पर का त्याग
046) आत्मा ही सब-कुछ
047-048) जीव सदा अकेला
049) समस्त संयोग सम्बन्ध का त्याग
050-051) सामान्य से आलोचना और प्रतिक्रमण

052) किनकी गर्हा करनी चाहिए
053) भय और मद
054) आसादना
055) निंदा गर्हा और आलोचना
056) आलोचना
057) आलोचना किनसे करनी चाहिए
058) क्षमायाचना
059) मरण के भेद
060) आराधना के अपात्र
061) मरण काल में परिणाम बिगड़ने से गति
062) कुमरण से सम्बंधित प्रश्न
064-068) कन्दर्प, आभियोग्य, किल्पिषक, स्वमोह और आसुरी भावना
069-070) बोधि की प्राप्ति में दुर्लभता और सुलभता
071) संसार परिभ्रमण का कारण
072) परीत संसारी
073) बालमरण
074) बालमरण करने वाला कैसे मरता है
075-076) पण्डित मरण की अभिलाषा
077) पण्डितमरण शुभ क्यों?
078) क्षुधा तृषा को ऐसे जीतें
079) तृष्णा
080) तृष्णा का उदहारण
081-082) कुभावना मात्र से भी कर्मों का बंध
083-084) परिणाम शुद्धि के उपाय
085-087) चन्द्रकवेध्य यन्त्र का उदाहरण
088) निर्यापकाचार्य की आवश्यकता
124) समाचार के लक्षण और उसके भेद
125) औधिक समाचार के दश भेद
126-128) दस समाचारों की परिभाषा
129) पदविभागी समाचार की प्रतिज्ञा
130) पदविभागी समाचार
131) इच्छाकार कब करते हैं ?
132) किस अपराध में मिथ्याकार होता है ?
133) तथाकार कब कहते हैं ?
134) निषेधिका और आसिका कब करना चाहिए ?
135) आपृच्छा कब कहते हैं ?
136) प्रतिपृच्छा कब करते हैं ?
137) छन्दन समाचार कब करते हैं ?
138) निमन्त्रणा समाचार कब करते हैं ?
139) उपसंपत् का स्वरूप और उनके भेद बताइए ?
140) विनयोसंपत् किस प्रकार कहते हैं ?
141) क्षेत्रोपसंपत् का स्वरूप
142) मार्गोपसंपत् का स्वरूप
143) सुखदु:खोपसंपत् का स्वरूप
144) सूत्रोपसंपत् का स्वरूप
145) पदविभागी समाचार
146) शिष्य गुरु से क्या पूछता है ?
147) शिष्य मुनि अपने साथ कितने मुनियों के साथ विहार करता है ?
148) विहार के भेद
149) एकल विहारी साधु
150) स्वछंद प्रवृत्ति करते हैं उनके लिए क्या आज्ञा है ?
151) स्वछन्द प्रवृत्ति में दोष
152) एकल विहार में और भी अनेक दोष

153) स्वच्छंदी मुनि गुरुकुल में गच्छ में भी अन्य मुनि के साथ रहना चाहते हैं या नहीं ?
154) एकल विहार में अन्य पापस्थान
155) किस गुरुकुल में रहना उचित
156) आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर का स्वरूप
157) विहार करते हुए पुस्तक या शिष्य को ग्रहण करने के लिए कौन योग्य हैं ?
158-159) आचार्य के गुण
160) आगंतुक पर-संघ मुनि के लिए आदरविधि
161) संघस्थ साधु और क्या करते हैं ?
162) संघस्थ साधु किस प्रकार से और कितने दिन तक सहयोग दें ?
163) आगन्तुक मुनि और वास्तव्य मुनि की आपस में चर्या
164) किन-किन स्थानों में परीक्षा करते हैं ?
165) आगन्तुक मुनि का आचार्य श्री से निवेदन
166) आचार्य द्वारा आगन्तुक मुनि से प्रश्न
167) उत्तर सुनकर आचार्य क्या कहते हैं ?
169-170) अनुकूल आगन्तुक मुनि का आगे क्या करना चाहिए ?
171) द्रव्यादि अशुद्धिपूर्वक स्वाध्याय से हानि
172) जीव दया के निमित्त शुद्धि
173) आगन्तुक मुनि का पर-गण में अनुशासन
174) आगन्तुक मुनि को पर-गण में वैयावृत्ति
175) आगन्तुक मुनि द्वारा वन्दना आदि क्रियाएँ
176) शोधन कहाँ करना चाहिए ?
177-178) आर्यिकाओं के साथ बोलना या बैठना है या नहीं ?
179) तरुण आर्यिका के साथ वचनालाप में दोष
180) आर्यिकाएं के साथ आवास आदि क्रिया में दोष
181) आर्यिकाओं के साथ संसर्ग में दोष
182) और भी किन-किन के साथ वार्तालाप न करें
183-184) आर्यिकाओं के प्रतिक्रमण आदि कैसे होंगे ?
185) गुण-रहित आचार्य द्वारा आर्यिकाओं का गणधर बनाने का निषेध
186) परगणस्थ आगंतुक मुनि को क्या करना चाहिए ?
187) आर्यिकाओं के लिए क्या आदेश है ?
188-189) आर्यिकाएँ वसतिका में अपना काल किस प्रकार से व्यतीत करती हैं ?
190) आर्यिकाओं के वस्त्र कैसे होते हैं ?
191) आर्यिकाएँ अपने आवास में कैसे रहती हैं ?
192) आर्यिकाएँ परगृह में जा सकती हैं ?
193) आर्यिकाओं द्वारा निषिद्ध क्रियायें
194) आर्यिकाएँ आहार के लिए कैसे निकलती हैं ?
195) आचार्य आदि की वन्दना आर्यिकाएँ किस प्रकार करती हैं ?
196) समाचार पालन करने का फल
197) ग्रंथकर्ता द्वारा निवेदन

अनगार-भावना

769) मंगलाचरण
770) अनगार-भावना सूत्र करने की प्रतिज्ञा
771) संग्रह सूत्रों के भेद
772-773) सूत्रों के अध्ययन का प्रयोजन
774) निर्ग्रन्थ महर्षि
775) लिंग-शुद्धि
776) मुनियों का निर्मल स्वरूप
777-778) निर्ग्रन्थ विषयक शुद्धि
779) तप-शुद्धि
780) चारित्र-शुद्धि
781) व्रतशुद्धि
783) अन्वय मुख से महाव्रतों का वर्णन

784) सर्व ग्रंथों का त्याग किस प्रकार?
785) निर्मम किस प्रकार?
786) यथाजात क्यों?
787) वसति शुद्धि
788) एकान्त में रहने से सुखलाभ कैसे?
789-790) मुनिराज धीर किस प्रकार?
791-795) मुनिराज के सत्त्व गुण
796) वन में रात्रि में किस प्रकार से रहते हैं ?
797) वन में कैसे आसन लगाते हैं ?
798) प्रतिकार रहित और कांक्षा रहित
799) विहार शुद्धि
800) ईर्यापथ जन्य कर्म का बन्ध क्यों नहीं?
801-802) विहार करते हुए पाप का परिहार कैसे?
803-805) सावद्यों का त्याग
806-807) विहार करते हुए परिणाम
808) गर्भवास का भय
809) गर्भवास से भय का प्रतिकार
810-811) विहार करते हुए भावना
812) भिक्षाशुद्धि
813) कितनी शुद्धियों सहित आहार?
814) दोष सहित आहार का निषेध
815) आहार हेतु भ्रमण
816) रसना इन्द्रिय पर जय
817) 'यमन' शब्द का अर्थ
818) लाभ-अलाभ में समताभाव
819-820) हार में स्थिरता
821) याचना रहित वे स्वयं क्या करते हैं?
822-823) प्राप्त हुए आहार का ग्रहण
824-825) किस प्रकार के आहार का ग्रहण नहीं?
826) ग्रहण करने योग्य आहार
827) सचित्त वस्तु एवं प्रासुक
828) आहार योग्य पदार्थ
829) आहार करने के बाद
830-832) ज्ञान शुद्धि
833) ज्ञान भावना से सम्पन्न साधु
834-835) और विशेषता
836-837) ज्ञानमद का निराकरण
838) उज्झन शुद्धि
839-840) संस्कार का स्वरूप
841-842) व्याधि के उत्पन्न होने पर
843-844) जिन्वचन ही औषधि
845) शारीरिक व्याधि का प्रतिकार
846-849) शरीर की अशुचिता
850-852) शरीर का अशुचिता का चिंतन
853-854) उज्झन शुद्धि का उपसंहार
855) वाक्यशुद्धि
856) लौकिक कथा का निषेध
857-858) लौकिक कथा
859-860) विकथाओं का त्याग
861) विकथा क्यों नहीं?
862) किस प्रकार की कथाएँ करें?
863) उपसंहार
864) तपशुद्धि

865) अभ्रावकाश योग
866) आतापन योग
867) वृक्षमूल योग
868-871) परीषह सहन
872) कषाय विजय
873) तप:शुद्धि के स्वामी
874) उसी को स्पष्ट करते हैं
875) इन्द्रियजय
876-878) मन के निग्रह का दृष्टान्त
879) उसी प्रकार से और भी
880) ध्यान हेतु परकोटे सहित नगर की रचना

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-वट्टकेराचार्य-देव-प्रणीत

श्री

मूलाचार

मूल प्राकृत गाथा

आभार : आ. ज्ञानमती

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका

मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीमूलाचार नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार: श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्रीवट्टकेराचार्यदेव विरचितं, श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं

प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

मूलगुणेसु विसुद्धे वंदित्ता सव्वसंजदे सिरसा

इहपरलोगहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि ॥1॥

अन्वयार्थ : [मूलगुणेसु विसुद्धे] मूलगुणों द्वारा विशुद्ध [सव्वसंजदे] सभी संयतों को [सिरसा] सर से (झुकाकर) [वंदित्ता] नमस्कार करके [इहपरलोगहिदत्थे] इस और पर लोक के लिए हितकर [मूलगुणे] मूल गुणों का [कित्तइस्सामि] वर्णन करूँगा ।

मूलगुण के नाम

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा

पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोओ ॥2॥

आचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव

ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥3॥

अन्वयार्थ : [पंचय महव्वयाइं] पांच ही महाव्रत, [समिदीओ पंच] पांच ही समितियां और [पंचचेविंदियरोहा] पांच ही इन्द्रिय निरोध, [छप्पि च आवासया] छह ही आवश्यक, [लोओ] लोंच, [आचेलकमण्हाणं] आचेलक्य, अस्नान [खिदिसयणमदंतघंसणं चेव] क्षितिशयन अदंतधावन, [ठिदिभोयेणभत्तं] स्थिति भोजन, और एक भक्त [मूलगुणा अट्ठवीसा दु] ये २८ मूलगुण [जिणवरुद्दिट्ठा] जिनेन्द्र देव ने बताये हैं ।

महाव्रतों के नाम

हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च

संगविमुत्ती य तहा महव्वया पञ्च पण्णत्ता ॥4॥

अन्वयार्थ : [हिंसाविरदी] हिंसा का त्याग, [सच्चं] सत्य, [अदत्तपरिवज्जणं] चोरी का त्याग, [बंभं च] और ब्रह्मचर्य [संगविमुत्ती य] और परिग्रह-त्याग [तहा महव्वया पंच पण्णत्ता] ये पाँच महाव्रत कहे गये हैं ।

अहिंसा महाव्रत

कायेंदियगुणमग्गण कुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं

णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा ॥5॥

अन्वयार्थ : [कायेंदियगुणमग्गण] काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास, [कुलाउजोणीसु] कुल, योनि द्वारा [सव्वजीवाणं] सभी जीवों का स्वरूप जानकर [ठाणादिसु] बैठना आदि (उठना, सोना, गमन करना, भोजन करना, हाथ पांव फैलाना, संकुचित करना वगैरह क्रिया-विशेष) में [हिंसादिविवज्जणमहिंसा] हिंसा को छोड़ना अहिंसा महाव्रत है ।

सत्य महाव्रत

रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्तिं

सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥6॥

अन्वयार्थ : [रागादीहिं असच्चं चत्ता] रागादि के द्वारा असत्य बोलने का त्याग करना और [परतावसच्चवयणुत्तिं] पर को ताप करने वाले सत्य वचनों के भी कथन का त्याग करना तथा [सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं] सूत्र और अर्थ के कहने में अयथार्थ वचनों का त्याग करना [सच्चं] सत्य महाव्रत है ।

अचौर्य महाव्रत

गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परणे संगहिदं

णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तुं ॥7॥

अन्वयार्थ : [गामादिसु पडिदाइं] ग्राम आदिक में पड़ा हुआ, [अप्पप्पहुदिं] भूला हुआ, रखा हुआ इत्यादि रूप से अल्प भी स्थूल सूक्ष्म वस्तु को [परेण संगहिदं] दूसरे के द्वारा इकट्ठा किया हुआ ऐसे [णादाणं परदव्वं] पर-द्रव्य को ग्रहण नहीं करना [अदत्तपरिवज्जणं तं तु] वह अदत्तत्याग (अचौर्य महाव्रत) है ।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

मादुसुदाभगिणीव य दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं

इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥8॥

अन्वयार्थ : [मादुसुदाभगिणीव य] वृद्धा, बाला, यौवनवाली स्त्री को देखकर अथवा उनकी तस्वीरों को देखकर [दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं] उनको माता-पुत्री-बहन समान समझ [इत्थिकहादिणियत्ती] स्त्री-सम्बन्धी कथादि का अनुराग छोड़ना, [तिलोयपुज्जं हवे बंभं] वह तीनों लोकों का पूज्य ब्रह्मचर्य (महाव्रत) है ।

परिग्रह महाव्रत

जीव णिबद्धाबद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव

तेसिं सक्क्च्चाओ इयरम्हि य णिम्मओऽसंगो ॥9॥

अन्वयार्थ : [जीवणिबद्धाबद्धा परिग्गहा] जीव के आश्रित अन्तरंग परिग्रह तथा [जीवसंभवा चेव] चेतन व अचेतन परिग्रह इत्यादि का [तेसिं सक्कच्चागो] शक्ति प्रगट करके त्याग, [इयम्हि य] तथा इनसे इतर जो संयम, ज्ञान, शौच के उपकरण इनमें [णिम्ममोऽसंगो] ममत्व

का न होना परिग्रह-त्याग (महाव्रत) है ।

समिति के नाम

इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ

पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥10॥

अन्वयार्थ : [इरिया] ईर्या, [भासा] भाषा, [एसण] एषणा, [णिक्खेवादाणमेव] आदान निक्षेपण और [पदिठावणिया] (मल-मूत्रादि का) प्रतिष्ठापन ये [पंचविहा] पाँच प्रकार की ही [समिदीओ] समितियाँ हैं।

ईर्या समिति

फासुयमग्गेण दिवा जुंगतरप्पेहिणा सकज्जेण

जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं ॥11॥

अन्वयार्थ : [फासुयमग्गेण] प्रासुक मार्ग से [दिवा] दिन में [जुंगतरप्पेहिणा] चार हाथ प्रमाण देखकर [सकज्जेण] अपने कार्य के लिए [जंतूणि] एकेंद्रियादि प्राणियों को [परिहरं] पीड़ा नहीं देते हुए संयमी का [हवे गमणं] जो गमन है [तेणिरियासमिदी] वह ईर्यासमिति है। ।

भाषासमिति

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पपसंसविकहादी

वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं ॥12॥

अन्वयार्थ : [पेसुण्ण] पैशून्य, [हास] हँसी, [कक्कस] कठोरता, [परणिंदाप्पपसंस] परनिन्दा, अपनी प्रशंसा और [विकहादी] विकथा आदि को [वज्जित्ता] छोड़कर [सपरहियं] अपने और पर के लिए [भासासमिदी] भाषा समिति [हवे कहणं] पूर्वक बोलना है।

एषणा समिति

छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी

सीदादीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणासमिदी ॥13॥

अन्वयार्थ : [छादालदोससुद्धं] उद्गम, उत्पादन, आदि छियालीस दोषों से रहित शुद्ध, [कारणजुत्तं] कारण (असाता / भूख) से सहित, [विसुद्धणवकोडी] नवकोटि से विशुद्ध और [सीदादीसमभुत्ती] शीत उष्ण आदि में समान भाव से आहार ग्रहण करना [परिसुद्धा] निर्मल [एसणासमिदी] एषणा समिति है।

आदान निक्षेपण समिति

णाणुवहिं संजमुवहिं सउचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा

पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणिक्खेवा ॥14॥

अन्वयार्थ : [णाणुवहिं] ज्ञान के उपकरण, [संजमुवहिं] संयम के उपकरण, [सउचुवहिं] शौच का उपकरण अथवा [अण्णमप्पमुवहिं] अन्य उपकरणों को भी [पयदं गहणिक्खेवो] प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना और रखना [मिदी आदाणिक्खेवा] आदान निक्षेपण समिति है ।

प्रतिष्ठापन समिति

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे

उच्चरादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥15॥

अन्वयार्थ : [एगंते] एकांत, [अच्चित्ते] अचित्त (जीव-जन्तु रहित), [दूरे] दूर-स्थित, [गूढे] गूढ़ (मर्यादित), [विसालमविरोहे] विशाल (विस्तीर्ण) और विरोध-रहित स्थान में [उच्चरादिच्चाओ] सावधानी पूर्वक मल-मूत्रादिक का विसर्जन [पदिठावणिया] प्रतिष्ठापन [हवे समिदी] समिति है।

इन्द्रिय निरोध व्रत

चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा ॥16॥

अन्वयार्थ : [चक्खू] चक्षु, [सोदं] कर्ण, [घाणं] घ्राण, [जिब्भा] जिह्वा [फासं च] और स्पर्शन इन [इंदिया पंच] पाँच इन्द्रियों को [सगसगविसएहिंतो] अपने विषय में [मुणिणा] मुनियों का [सया] हमेशा [णिरोहियव्वा] नियंत्रण इन्द्रिय निरोध व्रत है ।

चक्षु इन्द्रिय निरोध व्रत

सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणा ॥17॥

अन्वयार्थ : [सच्चित्ताचित्ताणं] सचेतन और अचेतन पदार्थों की [किरियासंठाणवण्णभेएसु] क्रिया, चित्रकर्म आदि संस्थान और वर्ण के भेदों में [मुणिणा] मुनिराज के जो [रागादिसंगहरणं] राग द्वेष आदि संग का त्याग है वह [चक्खुणिरोहो हवे] चक्षुनिरोध व्रत होता है।

श्रोत्रेन्द्रिय निरोध व्रत

सड्जादि जीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु ॥18॥

अन्वयार्थ : [सड्जादि जीवसद्दे] षड्ज आदि जीव शब्द और [वीणादिअजीवसंभवे सद्दे] वीणा आदि से उत्पन्न हुए अजीव शब्द ये सभी [रागादीण णिमित्ते] राग द्वेष के हेतु हैं [तदकरणं] इनका नहीं करना [सोदरोधो दु] श्रोत्रेन्द्रिय निरोध व्रत है ।

घ्राणेन्द्रिय निरोध व्रत

पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥19॥

अन्वयार्थ : [जीवाजीवप्पगे] जीव और अजीव स्वरूप [सुहे असुहे] सुख और दु:ख रूप [पयडीवासणगंधे] प्राकृतिक तथा पर-निमित्तिक गन्ध में जो [रागद्देसाकरणं] राग-द्वेष का नहीं करना है वह [मुणिवरस्स] मुनियों का [घाणणिरोहो] घ्राणेन्द्रिय निरोध व्रत है।

रसनेन्द्रिय निरोध व्रत

असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी ॥20॥

अन्वयार्थ : [असणादिचदुवियप्पे] अशन आदि से चार भेदरूप, [पंचरसे] पंच रसयुक्त, [फासुगम्हि] प्रासुक, [णिरवज्जे] निर्दोष, [दत्ते] पर के द्वारा दिये गये [इट्ठाणिट्ठाहारे] रूचिकर अथवा अरुचिकर आहार में [जिब्भाजओऽगिद्धी] लम्पटता का नहीं होना रसनेन्द्रिय निरोध व्रत है ।

स्पर्शनेन्द्रिय निरोध व्रत

जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे
फासे सुहे य असुहे फासणिरोहो असंमोहो ॥21॥

अन्वयार्थ : जीव (स्त्री आदि) के निमित्त से और अजीव से उत्पन्न हुए एवं कठोर कोमल आदि आठ भेदों से युक्त सुख और दु:ख रूप स्पर्श में मोह रागादि नहीं करना स्पर्शनेन्द्रिय निरोध व्रत है।

षट् आवश्यक क्रिया

समदा थवो य वंदण पडिक्कमणं तहेव णादव्वं

पच्चक्खाणं विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥22॥

अन्वयार्थ : सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इस प्रकार छह आवश्यक हैं। जो कि निश्चय क्रियाएँ अर्थात् नियम से करने योग्य हैं।

सामायिक

जीविदमरणे लाभालाभे संजोयविप्पओगे य
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम ॥23॥

अन्वयार्थ : जीवन मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु में, सुख-दु:ख इत्यादि में समभाव होना सामायिक नाम का व्रत है।

स्तव

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ ॥24॥

अन्वयार्थ : ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों के नाम की निरुक्ति के अनुसार अर्थ करना, उनके असाधारण गुणों को प्रगट करना, उनके चरणों को पूजकर मन-वचन-काय की शुद्धता से स्तुति करना उसे चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं ।

वन्दना

अरहंतसिद्ध पडिमातवसुदगुणगुरुगुरूण रादीणं
किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥25॥

अन्वयार्थ : कृतिकर्म पूर्वक वन्दना करना अर्थात् सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति पूर्व कायोत्सर्ग आदि के द्वारा मन-वचन काय की शुद्धिपूर्वक प्रणाम करना वन्दना है। अर्हंत-सिद्धों की प्रतिमा, तपोगुरु, श्रुतगुरु, गुणगुरु, दीक्षागुरु और दीक्षा में अपने से बड़े गुरु-इन सबका कृतिकर्म पूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के नमस्कार मात्र करके मन वचन काय की विशुद्धि द्वारा विधिपूर्वक जो नमस्कार किया जाता है वह वन्दना नाम का मूलगुण कहलाता है।

प्रतिक्रमण

दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकाएण पडिक्कमणं ॥26॥

अन्वयार्थ : निन्दा और गर्हा से युक्त होकर साधु मन वचन काय की क्रिया के द्वारा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विषय में अथवा इन द्रव्यादिकों के द्वारा किये गये व्रत विषयक अपराधों का जो शोधन करते हैं उसका नाम प्रतिक्रमण है।

प्रत्याख्यान

णामादीणं छण्हं अजोगपरिवज्जणं तियरणेण
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ॥27॥

अन्वयार्थ : अनागत आगत काल में आने वाले नाम, स्थापना आदि छहों अयोग्य का मन वचन काय से वर्जन करना प्रत्याख्यान कहलाता है।

कायोत्सर्ग

देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि
जिणगुणिंचतजुत्तो काउस्सग्गो तणुविसग्गो ॥28॥

अन्वयार्थ : दैवसिक आदि नियमों में, शास्त्र में कथित समयों में जो जिनेन्द्र-देव के गुणों के चिन्तन सहित, शरीर से ममत्व का त्याग किया जाता है, उसका नाम कायोत्सर्ग है।

लोच मूलगुण

वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥29॥
अन्वयार्थ : प्रतिक्रमण सहित दिवस में, दो तीन या चार मास में उत्तम मध्यम या जघन्य रूप लोच उपवासपूर्वक ही करना चाहिए। लोच मौनपूर्वक कहते हैं।

अचेलकत्व

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं
णिब्भूसणं णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥30॥
अन्वयार्थ : वस्त्र, चर्म और वल्कलों से अथवा पत्ते आदि से शरीर को नहीं ढकना, भूषण अलंकार से और परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ वेष जगत में पूज्य अचेलकत्व नाम का मूलगुण है।

अस्नान

ण्हाणादिवज्जणेण ये विलित्तजल्लमलसदेसव्वंगं
अण्हाणं घोर गुणं संजमदुगपालयं मुणिणो ॥31॥
अन्वयार्थ : स्नान आदि के त्याग कर देने से जल्ल, मल और पसीने से सर्वांग लिप्त हो जाता है। स्नान नहीं करने से इन्द्रियों का निग्रह होता है तथा प्राणियों को बाधा नहीं पहुँचने से प्राणी संयम भी पलता है।

क्षितिशयन

फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथादिदम्हि पच्छण्णे
दंडं धणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥32॥
अन्वयार्थ : जीवबाधारहित, अल्पसंस्तर रहित, असंयमी के गमनरहित गुप्तभूमि के प्रदेश में दण्ड के समान अथवा धनुष के समान एक कर्वट से सोना क्षितिशयन मूलगुण है।

अदंतधावन

अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥33॥
अन्वयार्थ : अंगुली, नख, दांतोन और तृण विशेष के द्वारा पत्थर या छाल आदि के द्वारा दाँत के मल का शोधन नहीं करना यह संयम की रक्षारूप अदन्तधावन व्रत है।

स्थितिभोजन

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइ विवज्जणेण समपायं
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥34॥
अन्वयार्थ : दीवाल आदि का सहारा न लेकर, जीव-जन्तु से रहित, स्थान की भूमि निरीक्षण करके समान पैर रखकर खड़े होकर, दोनों हाथ की अंजुलि बनाकर भोजन करना स्थितिभोजन नाम का व्रत है।

एकभक्त

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि

एक्कम्हि दुअ तिए वा मुहत्तकालेयभत्तं तु ॥35॥

अन्वयार्थ : सूर्योदय के बाद तीन घड़ी और सूर्यास्त के पहले तीन घड़ी काल को छोड़कर शेषकाल के मध्य में एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त पर्यन्त जो एक बार आहार ग्रहण है वह एकभक्त नाम का व्रत है।

मूलगुणों का फल

एवं विहाणजुत्ते मूलगुणे पालिऊण तिविहेण

होऊण जगदि पुज्जो अक्खयसोक्खं लभइ मोक्खं ॥36॥

अन्वयार्थ : मूलगुणों को मन वचन काय से पालन करके मनुष्य जगत में पूज्य होकर अक्षय सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

वृहत् प्रत्याख्यान अधिकार का मंगलाचरण

सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहदो णमो

सद्दहे जिणपण्णत्तं पच्चक्खामि य पावयं ॥37॥

णमोत्थु धुदपावाणं सिद्धाणं च महेसिणं

संथरं पडिवज्जामि जहा केवलिदेसियं ॥38॥

अन्वयार्थ : आठ गुण सहित सिद्धों को, नव केवल लब्धि युक्त अरिहंतों को, केवलज्ञान की ऋद्धि जिनको प्राप्त हुई है ऐसे मर्हिषयों को नमस्कार किया है । आत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल इन तीन कालों में यदि मरण उपस्थित हो तो मुनि संस्तर का आश्रय लेते हैं ।

दीक्षा काल, शिक्षा काल, गणपोषण काल, आत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल के भेद से काल के छह भेद हैं। जब कोई आसन्न भव्य जीव भेदाभेद रत्नत्रयात्मक आचार्य को प्राप्त करके, आत्मआराधना के **अर्थ** बाह्य व अभ्यंतर परिग्रह का परित्याग करके, दीक्षा ग्रहण करता है वह दीक्षाकाल है। दीक्षा के अनंतर निश्चय व्यवहार रत्नत्रय तथा परमात्म तत्त्व के परिज्ञान के लिए उसके प्रतिपादक अध्यात्म शास्त्र की जब शिक्षा ग्रहण करता है वह शिक्षाकाल है। शिक्षा के पश्चात् निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्ग में स्थित होकर उसके जिज्ञासु भव्यप्राणी गणों को परमात्मोपदेश से पोषण करता है वह गणपोषण काल है। गणपोषण के अनंतर गण को छोड़कर जब निज परमात्मा में शुद्ध संस्कार करता है वह आत्मसंस्कार काल है। तदनंतर उसी के लिए परमात्म पदार्थ में स्थित होकर, रागादि विकल्पों के कृश करने रूप भाव सल्लेखना तथा उसी के अर्थ कायक्लेशादि के अनुष्ठान रूप द्रव्य सल्लेखना है इन दोनों का आचरण करता है वह सल्लेखनाकाल है। सल्लेखना के पश्चात् बहिर्द्रव्यों में इच्छा का निरोध है लक्षण जिसका ऐसे तपश्चरण रूप निश्चय चतुर्विधाराधना, जो कि तद्भव मोक्षभागी ऐसे चरम देही, अथवा उससे विपरीत जो भवांतर से मोक्ष जाने के योग्य है, इन दोनों के होती है। वह उत्तमार्थ काल कहलाता है।

दुश्चरित का त्याग

जं किंचि मे दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे

सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥39॥

अन्वयार्थ : जो किंचित् भी मेरा दुश्चरित है उस सभी का मैं मन-वचन-काय से त्याग करता हूँ और सभी तीन प्रकार की सामायिक को निर्विकल्प करता हूँ । इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं ।

उपाधि का त्याग

बज्झब्भंतरमुवहिं सरीराइं च सभोयणं

मणसा वचि काएण सव्वं तिविहेण वोसरे ॥40॥
सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च
सव्वमदत्तादाणं मेहूण परिग्गहं चेव ॥41॥
अन्वयार्थ : बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का, शरीर आदि का और भोजन आदि का मन वचन काय से और कृत कारित अनुमोदना से त्याग करते हैं । सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और मूर्च्छा स्वरूप परिग्रह का भी त्याग करते हैं ।

अब्रह्मचर्य के भेद

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि
आसा वोसरित्ताणं समाहिं वडिवज्जए ॥42॥
अन्वयार्थ : मेरा सभी जीवों में समताभाव है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है । सम्पूर्ण आशा को छोड़कर इस समाधि को स्वीकार करता हूँ ।

किसी के साथ बैर नहीं

खमामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ॥43॥
अन्वयार्थ : समाधि धारक सोचता है सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें, सभी जीवों के साथ मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी के साथ वैर भाव नहीं है ।

बैर के निमित्त

रायबंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरिंद च वोसरे ॥44॥
अन्वयार्थ : राग का अनुबंध, प्रकृष्ट द्वेष, हर्ष, दीनभाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति, और अरति इन सब वैर के निमित्तों का समाधि धारक त्याग करता है ।

स्व का ग्रहण और पर का त्याग

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥45॥
अन्वयार्थ : मैं ममत्व को छोड़ता और निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता हूँ, आत्मा ही मेरा आलम्बन है और मैं अन्य सभी का त्याग करता हूँ ।

आत्मा ही सब-कुछ

आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य
आदा पच्चक्खाणे आदा में संवरे जोए ॥46॥
अन्वयार्थ : निश्चित रूप से मेरा आत्मा ही ज्ञान में है, मेरा आत्मा ही दर्शन में और चारित्र में है, प्रत्याख्यान में है और मेरा आत्मा ही संवर तथा योग में है । स्वभाव का, स्वरूप का त्याग नहीं होता, विभाव का त्याग होता है ।

जीव सदा अकेला

एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ ॥47॥
एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो

सेसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥48॥

अन्वयार्थ : जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है । एक जीव के ही यह जन्म और मरण है और अकेला ही कर्म रहित होता हुआ सिद्ध पद प्राप्त करता है । मेरा आत्मा एकाकी है, शाश्वत है और ज्ञान दर्शन लक्षण वाला है। शेष सभी संयोग लक्षण वाले जो भाव हैं वह मेरे से बहिर्भूत हैं ।

समस्त संयोग सम्बन्ध का त्याग

संजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं

तम्हा संजोय संबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥49॥

अन्वयार्थ : इस जीव ने संयोग के निमित्त से दु:खों के समूह को प्राप्त किया है इसलिए मैं समस्त संयोग सम्बन्ध को मन वचन काय पूर्वक छोड़ता हूँ ।

सामान्य से आलोचना और प्रतिक्रमण

मूलगुण उत्तरगुणे जो मे णाराहिओ पमाएण

तमहं सव्वं णिंदे पडिक्कमे आगमिस्साणं ॥50॥

अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य ममत्तिं

जीवेसु अजीवेसु य तं णिंदे तं च गरिहामि ॥51॥

अन्वयार्थ : मैंने मूलगुण और उत्तरगुणों में प्रमाद से जिस किसी की आराधना नहीं की है उस सम्पूर्ण की मैं निन्दा करता हूँ और भूत वर्तमान ही नहीं भविष्य में आने वाले का भी मैं प्रतिक्रमण करता हूँ । असंयम, अज्ञान और मिथ्यात्व तथा जीव और अजीव विषयक सम्पूर्ण ममत्व-उन सबकी मैं निन्दा करता हूँ और उन सबकी मैं गर्हा करता हूँ ।

किनकी गर्हा करनी चाहिए

सत्त भय अट्ठ मए सण्णा चत्तारि गारवे तिण्णि

तेत्तीसाच्चासणाओ रायद्दोसं च गरिहामि ॥52॥

अन्वयार्थ : सात भय, आठ मद, चार संज्ञा, तीन गारव, तैंतीस आसादना तथा राग और द्वेष इन सबकी मैं गर्हा करता हूँ ।

भय और मद

इहपरलोयत्ताणं अगुत्तिमरणं च वेयणाकम्हिभया

विण्णाणिस्सरियाणा कुलबलतवरूवजाइ मया ॥53॥

अन्वयार्थ : इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना, आकस्मिक ये सात भय हैं । विज्ञान, ऐश्वर्य, आज्ञा, कुल, बल, तप, रूप, जाति इनके निमित्तक आठ मद हैं ।

आसादना

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाय महव्वया पंच

पवयणमाउपयत्था तेतीसच्चासणा भणिया ॥54॥

अन्वयार्थ : आसादनायें ३३ होती हैं । पाँच अस्तिकाय-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश पृथ्वीकायिक आदि छ: जीव निकाय, पाँच महाव्रत पाँच समिति और तीन गुप्ति ये आठ प्रवचन मातृका । जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप से नव पदार्थ हैं। इस प्रकार ये तैंतीस आसादनायें हैं ।

निंदा गर्हा और आलोचना

णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं
आलोचेमि य सव्वं सब्भंतरबाहिरं उवहिं ॥55॥

अन्वयार्थ : आत्म संस्कार काल से संन्यास काल तक को आलोचना के लिए क्षपक आलोचना करते हैं-जो उपधि और परिग्रह निन्दा करने योग्य हैं उनकी मैं निन्दा करता हूँ, जो गर्हा करने योग्य हैं उनकी गर्हा करता हूँ और समस्त बाह्य अभ्यन्तर उपधि की आलोचना करके अपने से दूर करता हूँ ।

आलोचना

जह बालो जंप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जयुं भणदि
तह आलोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण ॥56॥

अन्वयार्थ : जैसे बालक सरल भाव से बोलता हुआ कार्य और अकार्य, अच्छे और बुरे सभी को कह देता है उसी प्रकार से माया भाव का अभाव और असत्य को छोड़कर आलोचना करनी चाहिए ।

आलोचना किनसे करनी चाहिए

णाणम्हि दंसणम्हि य तवे चरित्ते य चउसुवि अकंपो
धीरो आगमकुसलो अपरिस्साई रहस्साणं ॥57॥

अन्वयार्थ : जो ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों में भी अविचल हैं, धीर हैं, आगम में निपुण हैं, और रहस्य अर्थात् गुप्त दोषों को प्रकट नहीं करने वाले हैं वे आचार्य आलोचना सुनने के योग्य हैं ।

क्षमायाचना

रागेण य दोसेण य जं मे अकदण्हुयं पमादेण
जो मे किंचिवि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि ॥58॥

अन्वयार्थ : जो मैंने राग से अथवा द्वेष से न करने योग्य कार्य किया है, प्रमाद से जिसके प्रति कुछ भी कहा है उन सबसे मैं क्षमायाचना करता हूँ ।

मरण के भेद

तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति ॥59॥

अन्वयार्थ : मरण के तीन भेद हैं-बालमरण, बालपण्डितमरण और पण्डितमरण। असंयतसम्यग्दृष्टि जीव बाल कहलाते हैं । इनका मरण बालमरण है । संयतासंयत जीव बालपण्डित कहलाते हैं क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के वध से विरत न होने से ये बाल हैं और द्वीन्द्रिय आदि जीवों के वध से विरत होने से पण्डित हैं इसलिए इनका मरण बालपण्डित मरण है । पण्डितों के मरण अर्थात् देह परित्याग अथवा शरीर का अन्यथा रूप होना पण्डितमरण है जिसके द्वारा केवल शुद्ध ज्ञान के धारी केवली भगवान मरण करते हैं ।

आराधना के अपात्र

जे पुण पणट्ठमदिया पचलियसण्णा य वक्कभावा य
असमाहिणा मरंते ण हु ते आराहया भणिया ॥60॥

अन्वयार्थ : जो पुन: नष्ट बुद्धि वाले हैं, जिनकी आहार आदि संज्ञाएँ उत्कट हैं और जो कुटिल परिणामी हैं वे असमाधि से मरण करते हैं । निश्चित रूप से वे आराधक नहीं कहे गये हैं ।

मरण काल में परिणाम बिगड़ने से गति

मरणे विराहिए देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही
संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले ॥61॥

अन्वयार्थ : मरण की विराधना हो जाने पर देवदुर्गति होती है । भवन, व्यंतर ज्योतिष्कादि देवों में जन्म लेते हैं तथा निश्चितरूप से बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है और फिर आगामी काल में उस जीव का संसार अनन्त हो जाता है ।

कुमरण से सम्बंधित प्रश्न

का देवदुग्गईओ का बोही केण व बुज्झए मरणं
केण व अणंतपारे संसारे हिंडए जीवो ॥62॥

अन्वयार्थ : देव दुर्गति का क्या लक्षण है ? बोधि का क्या स्वरूप है ? किस परिणाम से मरण नहीं जाना जाता है ? तथा किन कारणों से यह जीव, जिसका पार पाना कठिन है ऐसे अपार संसार में भ्रमण करता है ?

कंदप्पमाभिजोग्गं किव्विस संमोहमासुरंतं च ।
ता देवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति ॥63॥

अन्वयार्थ : मृत्यु के समय सम्यक्त्व का विनाश होने से कंदर्प, आभियोग्य, कैल्विष, संमोह और आसुर - ये पाँच देव दुर्गतियाँ होती हैं ।

कन्दर्प, आभियोग्य, किल्पिषक, स्वमोह और आसुरी भावना

असत्तमुल्लावेंतो पण्णावेंतो य बहुजणं कुणइं
कंदप्पं रइसमावण्णो कंदप्पेसु उववज्जइ ॥64॥
अभिजुंजइ बहुभावे साहू हस्साइयं च बहुवयणं
अभिजोगेहिं कम्मेहिं जुत्तो वाहणेसु उववज्जई ॥65॥
तित्थयराणं पडिणीओ संघस्स य चेइयस्स सुत्तस्स
अविणीदो णियडिल्लो किव्विसियेसूववज्जेई ॥66॥
उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ मग्गविपडिवण्णो य
मोहेण य मोहंतो संमोहेसूववज्जेदि ॥67॥
खुद्दी कोही माणी माई तह संकलिट्ठो तवे चरित्ते य
अणुबद्धवेररोई असुरेसुव्वज्जदे जीवो ॥68॥

अन्वयार्थ : जो साधु असत्य बोलता हुआ और उसी को बहुतजनों में प्रतिपादित करता हुआ रागभाव को प्राप्त होता है, कन्दर्प भाव करता है तो वह कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होता है ।

जो साधु अनेक प्रकार के भावों का और हास्य आदि अनेक प्रकार के वचनों का प्रयोग करता है वह अभियोग कर्म से युक्त होता हुआ वाहन जाति के देवों में उत्पन्न होता है ।

जो तीर्थंकरों के प्रतिकूल है, संघ, जिनप्रतिमा और सूत्र के प्रति अविनयी है और मायाचारी है वह किल्विषक जाति के देवों में जन्म लेता है ।

जो उन्मार्ग का उपदेशक है, सन्मार्ग के विघातक तथा विरोधी है । वह मोह से अन्य को भी मोहित करता हुआ सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होता है ।

जो क्षुद्र, क्रोधी, मानी, मायावी है तथा तप और चारित्र में संक्लेश रखने वाला है, जो वैर को बाँधने में रूचि रखता है वह जीव असुर जाति के देवों में उत्पन्न होता है ।

बोधि की प्राप्ति में दुर्लभता और सुलभता

मिच्छादंसणरत्ता सणिदाणा किण्हलेसमोगाढा

इह जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥69॥
सम्मद्दंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा
इह जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा हवे बोही ॥70॥
अन्वयार्थ : जो जीव मिथ्यादर्शन से अनुरक्त, निदान सहित और कृष्ण लेश्या से मरण करते हैं उनके लिए बोधि की प्राप्ति होना दुर्लभ है । जो सम्यग्दर्शन में तत्पर हैं, निदान भावना से रहित हैं और शुक्ल लेश्या से परिणत हैं ऐसे जो जीव मरण करते हैं उनके लिए बोधि सुलभ है ।

संसार परिभ्रमण का कारण

जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य
असमाहिणा मरंते ते होंति अणंतसंसारा ॥71॥
अन्वयार्थ : जो साधु गुरुओं की आज्ञा नहीं पालते हैं, मोही हैं, अतिचार सहित चारित्र पालते हैं, कुत्सित आचरण वाले हैं वे असमाधि से मरण करते हैं और अनन्त संसारी हो जाते हैं ।

परीत संसारी

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥72॥
अन्वयार्थ : जो जिनेन्द्रदेव के वचनों में अनुरागी है, भाव से गुरु आज्ञा का पालन करते हैं, अतिचार रहित हैं तथा संक्लेशभाव रहित हैं वे संसार का अंत करने वाले होते हैं ।

बालमरण

बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणि मणाणि
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति ॥73॥
अन्वयार्थ : जो जिनवचन को नहीं जानते हैं वे बेचारे अनेक बार बालमरण करते हुए अनेक प्रकार के अनिच्छित बाल-बाल मरणों से मरण करते रहेंगे ।

बालमरण करने वाला कैसे मरता है

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य
अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणि ॥74॥
अन्वयार्थ : शस्त्रों के घात से मरना, विष भक्षण करना, अग्नि में जल जाना, जल में प्रवेश कर मरना और पाप क्रियामय द्रव्य का सेवन करके मरना ये मरण-जन्म और मृत्यु की परम्परा को करने वाले बाल-बाल मरण हैं ।

पण्डित मरण की अभिलाषा

उड्ढमधो तिरियाह्मि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि
दंसणणाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥75॥
उव्वेयमरणं जादीमरणं णिरएसु वेदणाओ य
एदाणि संभरंतो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥76॥
अन्वयार्थ : ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग् लोक में मैंने बहुत बार बालमरण किये हैं अब मैं दर्शन और ज्ञान से सहित होता हुआ पण्डित मरण से मरूँगा । उद्वेग पूर्वक मरण, जन्मते ही मरण और जो नरकों की वेदनाएँ हैं इन सबका स्मरण करते हुए अब मैं पण्डित मरण से प्राण त्याग करूँगा ।

पण्डितमरण शुभ क्यों?

एक्कं पंडिदमरणं छिंददि जादीसयाणि बहुगाणि
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥77॥

अन्वयार्थ : एक पण्डितमरण सौ-सौ जन्मों का नाश कर देता है अत: ऐसे ही मरण से मरना चाहिए कि जिससे मरण सुमरण हो जावे ।

क्षुधा तृषा को ऐसे जीतें

जइ उप्पज्जइ दु:खं तो दट्ठव्वो सभावदो णिरए
कदमं मए ण पत्तं संसारे संसरंतेण ॥78॥

अन्वयार्थ : यदि असातावेदनीय कर्म के उदय से दु:ख उत्पन्न होता है तो नरक के स्वरूप का अवलोकन मन से करना चाहिए। जिससे भूख आदि वेदनाओं से धैर्य च्युत नहीं होता है ।

तृष्णा

संसारचक्कवालम्मि मए सव्वेवि पुग्गला बहुसो
आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तित्ती ॥79॥

अन्वयार्थ : चतुर्गति के जन्म मरण रूप भँवर में मैंने सभी पुद्गल वर्गणाओं को अनन्त बार ग्रहण किया है, खलभाग रसभाग रूप से परिणमाया भी है, अर्थात् उन्हें जीर्ण भी किया है किन्तु आज तक उनसे मुझ तृप्ति नहीं हुई, प्रत्युत आकांक्षाऐं बढ़ती ही गयी है ।

तृष्णा का उदहारण

तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥80॥

अन्वयार्थ : जैसे अग्नि तृण और लकड़ियों के समूह से तृप्त नहीं होती है । जैसे हजारों नदियों से लवण समुद्र तृप्त नहीं होता उसी प्रकार से इच्छित सुख के साधनभूत आहार, स्त्री, वस्त्र आदि काम भोगों से इस जीव को संतुष्ट करना शक्य नहीं है ।

कुभावना मात्र से भी कर्मों का बंध

कंखिदकलुसिदभूदो कामभोगेसु मुच्छिदो संतो
अभुंजंतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झेइ ॥81॥
आहारणिमित्तं किर मच्छा गच्छंति सत्तिंम पुढिंव
सच्चित्तो आहारो ण कप्पदि मणसावि पत्थेदुं ॥82॥

अन्वयार्थ : आकांक्षा और कलुषता से सहित हुआ यह जीव काम और भोगों में मूर्च्छित होता हुआ, भोगों को नहीं भोगता हुआ भी परिणाम मात्र से कर्मों के द्वारा बन्ध को प्राप्त होता है । स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य के कर्ण में तन्दुल मत्स्य होते हैं जो कि तन्दुल के समान ही लघु शरीर वाले हैं । वे मत्स्य आदि जन्तु महामत्स्य के मुख में प्रवेश करते हुए और निकलते हुए तमाम जीवों को देखते हैं तो सोचते रहते हैं कि यदि मेरा बड़ा शरीर होता तो मैं इन सबको खा लेता, एक को भी नहीं छोड़ता किन्तु वे खा नहीं पाते हैं। तथापि इस भावना मात्र से पाप बन्ध करते हुए वे तंदुल मत्स्य जीव भी सातवें नरक में चले जाते हैं ।

परिणाम शुद्धि के उपाय

पुव्वं कदपरियम्मो अणिदाणो ईहिदूण मदिबुद्धी
पच्छा मलिदकसाओ सज्जो मरणं पडिच्छाहि ॥83॥
हंदि चिरभाविदावि य जे पुरुसा मरणदेसयालम्मि
पुव्वकदकम्मगरुयत्तणेण पच्छा परिबडंति ॥84॥

अन्वयार्थ : पूर्व में कहे हुए कन्दर्प आदि भावना रूप या सदोष आहार की इच्छा रूप विपरीत परिणाम से जीव नरक में चला जाता है इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण द्वारा आगम में जो कहा गया है उसका निश्चय करके पहले तपश्चरण का अनुष्ठान करो । पुन: निदान भाव रहित होते हुए तथा कषायों का त्याग करते हुए तुम इस समय कृतकृत्य होकर समाधिमरण का अनुष्ठान करो । जिन्होंने चिरकाल तक अभ्यास किया है ऐसे पुरुष भी मरण के देश-काल में पूर्व में किये गये कर्मों के भार से पुन: च्युत हो जाते हैं ।

चन्द्रकवेध्य यन्त्र का उदाहरण

तह्मा चंदयवेज्झस्स कारणेण उज्जदेण पुरिसेण
जीवो अविरहिदगुणो कादव्वो मोक्खमग्गमि ॥85॥
कणयलदा णागलदा विज्जुलदा तहेव कुंदलदा
एदाविय तेण हदा मिथिलाणयरिए महिंदयत्तेण ॥86॥
सायरगो बल्लहगो कुलदत्तो वड्डमाणगो चेव
दिवसेणिक्केण हदा मिहिलाए महिंददत्तेण ॥87॥

अन्वयार्थ : चंद्रकवेध यंत्र को वेधने के लिए खूब अभ्यास करना पड़ता है । ऐसे चंद्रक वेध्य के लिए उद्युक्त हुए वीर पुरुष यंत्र की तरफ एकाग्र चित्त होकर उसको विद्ध करने में सफल होता है, वैसे ही सल्लेखना मरण के लिए उद्युक्त हुआ क्षपक ज्ञानदर्शन चारित्रादि में स्थिर रहेगा तभी समाधिमरण कार्य में सफल होगा ।

उदा. मिथिला नगरी में महेन्द्र दत्त नामक पुरुष ने सागरक, वल्लभक, कुलदत्त और वर्धमानक ऐसे चार पुरुषों को चंद्रकवेध्य के समय मारा था । तथा उसी ने ही उसी नगरी में कनकलता, नागलता, विद्युलता और कुंदलता इन स्त्रियों को मारा था उसी प्रकार मुनि भी समाधिमरण के समय यत्न करके क्रोधादि कषायों का नाश करें ।

निर्यापकाचार्य की आवश्यकता

जह णिज्जावयरहिया णावाओ वररदण सुपुण्णाओ
पट्टणमासण्णाओ खु पमादमला णिबुड्डंति ॥88॥

अन्वयार्थ : जैसे उत्तम रत्नों से भी हुई नौकाएँ नगर के समीप किनारे पर आकार भी, कर्णधार के अभाव में प्रमाद के कारण नौकाएँ डूब जाती हैं वैसे क्षपक रूपी नौकाएँ भी रत्नत्रय रूपी रत्नों से परिपूर्ण हैं । संन्यास रूपी पत्तन-किनारे तक आ चुकी हैं फिर भी निर्यापकाचार्य के अभाव में प्रमाद से वे क्षपकरूपी नौकाएँ संसार समुद्र में डूब जाती हैं अत: सावधानी रखनी चाहिए ।

बाहिर जोग विरहिओ अब्भंतरजोग झाणमालीणो
तह तम्हि देसयाले अमूढसण्णो जहसु देहं ॥89॥

अन्वयार्थ : अभ्रावकाश, आतापन और वर्षायोग इन योगों को बाह्ययोग कहते हैं । हिमकाल में नदी के तट समीप ध्यानस्थ होकर शीतपरीषह सहन करना अभ्रावकाश योग है । गर्मी के दिनों में पर्वत के शिलापर ध्यान में निमग्न रहना आतापन योग है तथा वर्षाकाल में झाड़ के नीचे ध्यान करना वर्षायोग अथवा वृक्षमूलयोग है । संन्यास काल में इन योगों से तपश्चरण करने का सामर्थ्य क्षपक में नहीं रहता है । ऐसी परिस्थिति में वह क्षपक अपने आत्मा के स्वरूप का चिंतन करते हुए जो ध्यान होता है वह आभ्यन्तर योग है । इन योग का आश्रय लेकर क्षपक आहारादि संज्ञाओं का त्याग करके देह को छोड़े ।

हंतूण रागदोसे छेत्तूण य अट्ठकम्मसंखलियं
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहि मुच्चिहिसि ॥90॥

अन्वयार्थ : हे क्षपक ! जब तुम आहारादि संज्ञा से रहित होकर राग द्वेष का त्याग करोगे तब तुम्हारे ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की शृंखला टूट जाने से जन्म मरण रूपी अरहट भी नष्ट होगा जिससे तुम संसार भ्रमण से मुक्त होकर नित्य सुखी होगे ।

सव्वमिदं उवदेसं जिणदिट्ठं सद्दहामि तिविहेण
तसथावरखेमकरं सारं णिव्वाणमग्गस्स ॥91॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सम्पूर्ण इस उपदेश का मन वचन काय से श्रद्धान करता हूँ । यह निर्वाण मार्ग का सार है और त्रस तथा स्थावर जीवों का क्षेम-सुख करने वाला है ।

ण हि तम्हि देसयाले सक्को बारसविहो सुदक्खंधो
सव्वो अणुचिंतेदुं बलिणावि समत्थचित्तेण ॥92॥

अन्वयार्थ : समाधि काल में सम्पूर्ण द्वादशांग ज्ञानरूपी श्रुतवृक्ष का चिंतन करना अर्थात् उसके अर्थ की भावना करना और उसका पठन करना शरीर बल युक्त ऐसे क्षपक को भी अशक्य है । यद्यपि उसका शरीर बल युक्त हो और मन भी एकाग्र हो तो भी समस्त श्रुतज्ञान का चिन्तन शरीर त्याग के समय होना अशक्य है ।

एक्कह्मि बिदियह्मि पदे संवेगो वीयराय मग्गम्मि
वच्चदिणरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥93॥

अन्वयार्थ : 'नमोऽर्हद्भ्य:' नम: सिद्धेभ्य: इन दोनों नमस्कार पदों को मरणसमय में क्षपक को विस्मरण न हो तथा सर्वसंग परित्याग किये हुए क्षपक को वीतराग मार्ग का प्रतिपादन करने वाले जिनागम में अतिशय हर्ष रखना चाहिए । कंठगत प्राण होने पर भी 'ऊँ-ह्रीं' आदि बीजाक्षर पदों का चिंतन करते करते प्राण त्याग करना चाहिए ।

एदह्मादो एक्कं हि सिलोगं मरणदेसयालह्मि
आराहणउवजुत्तो चिंतंतो आराधओ होदि ॥94॥

अन्वयार्थ : आराधना में लगा हुआ साधु मरण के काल में इस श्रुत समुद्र से एक भी श्लोक का, पद का चिन्तवन करता हुआ आराधक हो जाता है ।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥95॥

अन्वयार्थ : विषय सुख का विरेचन कराने वाले और अमृतमय ये जिनवचन ही औषध हैं । ये जरा मरण और व्याधि से होने वाली वेदना को तथा सर्व दु:खों को नष्ट करने वाले हैं ।

णाणं सरणं मे दंसणं च सरणं चरियसरणं च
तव संजमं च सरणं भगवं सरणो महावीरो ॥96॥

अन्वयार्थ : मरण समय में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये ही मेरे रक्षक हैं और इनके उपदेष्टा भगवान महावीर ही मेरे रक्षक हैं ।

आराहण उवजुत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं
उक्कस्सं तिण्णि भवे गंतूण य लहइ णिव्वाणं ॥97॥

अन्वयार्थ : आराधना में तत्पर हुआ साधु आगम में कथित सम्यक्-प्रकार से मरण करके उत्कृष्ट रूप से तीन भव को पाकर पुन: निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।

समणो मेत्ति य पढमं बिदियं सव्वत्थ संजदो मेत्ति
सव्वं च वोस्सरामि य एदं भणिदं समासेण ॥98॥

लद्धं अलद्धपुव्वं जिणवयण सुभासिदं अमिदभूदं
गहिदो सुग्गइमग्गो णाहं मरणस्स बीहेमि ॥99॥

अन्वयार्थ : पहला तो मेरा श्रमण यह रूप है और दूसरा सभी जगह मेरा संयत-संयमित होना यह रूप है इसलिए संक्षेप से कहे गये इन सभी अयोग्य का मैं त्याग करता हूँ । जिनको पहले कभी प्राप्त नहीं किया था। ऐसे अलब्धपूर्ण, अमृतमय, जिनवचन सुभाषित को मैंने अब प्राप्त किया है । अब मैंने सुगति के मार्ग को ग्रहण कर लिया है इसलिए अब मैं मरण से नहीं डरता हूँ ।

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥100॥

सीलेणवि मरिदव्वं णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्वं

जइ दोहिं वि मरियव्वं वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं ॥101॥
अन्वयार्थ : धीर वीर को भी मरना पड़ता है और निश्चित रूप से धैर्य रहित जीव को भी मरना पड़ता है । यदि दोनों को मरना ही पड़ता है तब तो धीरता सहित होकर ही मरना अच्छा है शीलयुक्त को भी मरना पड़ता है और शील रहित को भी मरना पड़ता है यदि दोनों को ही मरना पड़ता है तब तो शील सहित होकर ही मरना श्रेष्ठ है ।
चिरउसिदबंभयारी पप्फोडेदूण सेसयं कम्मं
अणुपुव्वीय विसुद्धो सुद्धो सिद्धिं गिंद जादि ॥102॥
अन्वयार्थ : चिरकाल तक ब्रह्मचर्य का उपासक साधु शेष कर्म को दूर करके क्रम से विशुद्ध होता हुआ शुद्ध होकर सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है ।
णिम्ममो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो
अणिदाणो दिठिसंपण्णो मरंतो आराहओ होज ॥103॥
णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हबे ॥104॥
अन्वयार्थ : जो ममत्व रहित, अहंकार रहित, कषाय रहित, जितेन्द्रिय, धीर, निदान रहित और सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह मरण करता हुआ आराधक होता है। जो कषाय रहित है । इन्द्रियों का दमन करने वाला है, शूर है, पुरुषार्थी है और संसार से भयभीत है उसके सुखपूर्वक प्रत्याख्यान होता है ।
एदं पच्चक्खाणं जो काहदि मरणदेसयालम्मि
धीरो अमूढसण्णो सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥105॥
अन्वयार्थ : धैर्यवान, आहार, भय, आदि संज्ञाओं में लम्पटता रहित जो साधु मरण के समय उपर्युक्त प्रत्याख्यान को करते हैं वे उत्तम अर्थात् निर्वाण स्थान को प्राप्त कर लेते हैं ।
वीरो जरमरणरिऊ वीरो विण्णाणणाण संपण्णो
लोगस्सुज्जोययरो जिणवरचंदो दिसदुबोधिं ॥106॥
अन्वयार्थ : वीर भगवान ज्ञान, दर्शन, चारित्र से सम्पन्न हैं लोक का उद्योत करने वाले हैं, जरा-मरण को नष्ट करने वाले हैं, ऐसे हे वर्धमान भगवान मुझे बोधि-समाधि प्रदान करें ।
जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥107॥
अन्वयार्थ : हे भगवान, जो गति अर्हंतों की, सिद्धों की और क्षीणकषायी जीवों की होती है वही गति मेरी हमेशा होवें और मैं कुछ भी आपसे नहीं माँगता हूँ ।
एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं ॥108॥
अन्वयार्थ : यह मैं, जिनवर में प्रधान ऐसे वर्धमान भगवान को, शेष सभी तीर्थंकरों को और गणसहित सभी गणधर देवों को प्रणाम करता हूँ ।
सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च
सव्वमदत्तादाणं मेहूणपरिग्गहं चेव ॥109॥
अन्वयार्थ : सम्पूर्ण प्राणिहिंसा को, असत्य वचन को, सम्पूर्ण अदत्त ग्रहण और मैथुन तथा परिग्रह को भी मैं छोड़ता हूँ ।
सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणइ
आसाए वोसरित्ताणं समाधिं पडिवज्जए ॥110॥
सव्वं आहारविहिं सण्णाओ आसए कसाए य

सव्वं चेय ममत्तिं जहामि सव्वं खमावेमि ॥111॥

अन्वयार्थ : सभी प्राणियों में मेरा साम्य-भाव है । किसी के साथ भी मेरा बैर नहीं है, मैं सम्पूर्ण आकांक्षाओं को छोड़कर, शुभ-परिणाम रूप समाधि को प्राप्त करता हूँ । सर्व आहार-विधि को, आहार आदि संज्ञाओं को, आकांक्षाओं और कषायों को तथा सम्पूर्ण ममत्व को भी मैं छोड़ता हूँ तथा सभी से क्षमा कराता हूँ ।

एदम्हि देशयाले उवक्कमो जीविदस्स जदि मज्झं।

एदं पच्चक्खाणं णित्थिण्णे पारणा हुज्ज ॥112॥

अन्वयार्थ : यदि मेरा इस देश या काल में जीवन रहेगा तो इस प्रत्याख्यान की समाप्ति करके मेरी पारना होगी ।

सव्वं आहारविहिं पच्चक्खामि पाणयं वज्ज

उविंह च वोसरामि य दुविहं तिविहेण सावज्जं ॥113॥

अन्वयार्थ : पेय पदार्थ को छोड़कर सम्पूर्ण आहार-विधि का मैं त्याग करता हूँ और मन-वचन-काय पूर्वक दोनों प्रकार की उपाधि का भी त्याग करता हूँ ।

जो कोई मज्झ उवही सब्भंतवाहिरो य हवे

आहारं च सरीरं जावज्जीवा य वोसरे ॥114॥

अन्वयार्थ : जो कुछ भी मेंरा अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह है, उसको तथा आहार और शरीर को मैं जीवन-भर के लिए छोड़ता हूँ ।

जम्मालीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं

तं सव्वजीवसरणं णंददु जिणसासणं सुइरं ॥115॥

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी

जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥116॥

अन्वयार्थ : जिसका आश्रय लेकर जीव अनन्त सन्सार-समुद्र को पार कर लेते हैं, सभी जीवों का शरण-भूत वह जिन-शासन चिरकाल तक वृद्धिंगत होवे । अर्हन्तों की जो गति है और सिद्धों की जो गति है तथा वीत-मोह जीवों की जो गति है, वहीँ गति मेरी सदा होवे ।

एगं पंडियमरणं छिंदइ जाईसयाणि बहुगाणि

तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥117॥

अन्वयार्थ : एक ही पण्डित-मरण बहुविध सौ-सौ जन्मों को समाप्त कर देता है । इसलिए ऐसा मरण प्राप्त करना चाहिए जिससे मरण सुमरण हो जावे ।

एगम्हि य भवगहणे समाहिमरणं लहिज्ज जदि जीवो

सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि ॥118॥

अन्वयार्थ : यदि जीव एक भव में समाधिमरण को प्राप्त कर लेता है तो वह सात या आठ भव लेकर पुन: सर्वश्रेष्ठ निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण बिज्जदे दुक्खं

जम्मणमरणादंवं छिदि ममत्तिं सरीरादो ॥119॥

अन्वयार्थ : मरण के समान अन्य कोई भय नहीं है और जन्म के समान अन्य कोई दु:ख नहीं है अत: जन्म-मरण के कष्ट में निमित्त ऐसे शरीर के ममत्व को छोड़ो ।

पढमं सव्वदिचारं बिदियं तिविहं हवे पडिक्कमणं

णाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवाय मुत्तमट्ठं च ॥120॥

अन्वयार्थ : पहला सर्वातिचार प्रतिक्रमण है । दूसरा त्रिविध आहार-त्याग प्रतिक्रमण है । यावज्जीवन पाँक आहार का त्यागना यह उत्तमार्थ नाम का तीसरा प्रतिक्रमण होता है ।

पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा

तणुमुंडेण वि सहिया दस मुंडा वण्णिया समए ॥121॥

अन्वयार्थ : पाँच इंद्रिय-मुण्डन, वचन-मुण्डन और शरीर-मुण्डन से सहित हस्त, पाद एवं मनो-मुण्डन ऐसे दस मुण्डन आगम में कहे गए हैं ।

तेलोक्कपूयणीय अरहंते वंदिऊण तिविहेण
वोच्छं सामाचारं समासदो आणुपुव्वीयं ॥122॥

अन्वयार्थ : तीन लोक में पूज्य अर्हन्त भगवान को मन-वचन-काय पूर्वक नमस्कार करके अनुक्रम से संक्षेप रूप में समाचार कहूँगा ।

समदा सानाचारो सम्माचारो समो व आचारो
सव्वेसिं सम्माणं सामाचारो दु आचारो ॥123॥

अन्वयार्थ : समता समाचार, सम्यक आचार, सम आचार या सभी का समान आचार ये समाचार शब्द के चार अर्थ हैं ।

समाचार के लक्षण और उसके भेद

दुविहो सामाचारो ओघोविय पदविभागिओ चेव
दसहा ओघो भणिओ अणेगहा पदविभागी य ॥124॥

अन्वयार्थ : औघक समाचार और पदविभागिक समाचार ऐसे दो भेद हैं । औधिक समाचार के दस भेद हैं तथा पदविभागी के अनेक भेद हैं ।

औधिक समाचार के दश भेद

इच्छा मिच्छाकारो तधाकारो व आसिआ णिसिही
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदणसणिमंतणा य उवसंपा ॥125॥

अन्वयार्थ : इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, निमन्त्रणा, उपसम्पत् ये दश भेद औघिक समाचार के हैं ।

दस समाचारों की परिभाषा

इट्ठे इच्छाकारो मिच्छाकारो तहेव अवराहे
पडिसुणणाह्मि तहत्तिय णिग्गमणे आसिया भणिया ॥126॥
पविसंते य णिसीही आपुच्छणियासकज्ज आरम्भे
साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिट्ठह्मि पडिपुच्छा ॥127॥
छंदणगहिदे दव्वे अगहिददव्वेणिमंतणा भणिदा
तुह्यमहंतिगुरुकुले आदणिसग्गो दु उवसंपा ॥128॥

अन्वयार्थ : इष्ट विषय में इच्छाकार, उसी प्रकार अपराध में मिथ्याकार, प्रतिपादित के विषय में तथा 'ऐसा ही है' ऐसा कथन तथाकार और निकलने में आसिका का कथन किया गया है । प्रवेश करने में निषेधिका तथा अपने कार्य के आरम्भ में आपृच्छा करनी होती है । सहधर्मी साधु और गुरु से पूर्व में ली गई वस्तु को पुन: ग्रहण करने में प्रतिपृच्छा होती है । ग्रहण की हुई वस्तु में उसकी अनुकूलता रखना छन्दन है । अगृहीत द्रव्य के विषय में याचना करना निमन्त्रणा है और गुरु के संघ में 'मैं आपका हूँ' ऐसा आत्म-समर्पण करना उपसम्पत् कहा गया है । (ये दश भेद औघिक समाचार के हैं)

पदविभागी समाचार की प्रतिज्ञा

औधियसामाचारो एसो भणिदो हु दसविहो णेओ
एत्तो य पदविभागी समासदो वण्णइस्सामि ॥129॥

अन्वयार्थ : यह कहा गया दस प्रकार का औधिक समाचार जानना चाहिए । अब इसके बाद संक्षेप से पद-विभागी समाचार कहुंगा ।

पदविभागी समाचार

उग्गमसूरप्पहुदी समणाहोरत्तमंडले कसिणे

जं आचरंति सददं एसो भणिदो पदविभागी ॥130॥

अन्वयार्थ : श्रमणगण सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र निरन्तर जो आचरण करते हैं ऐसा यह पदविभागी समाचार है ।

इच्छाकार कब करते हैं ?

संजमणाणुवकरण अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे

जोगग्गहणादीसु य इच्छाकारो दु कादव्वो ॥131॥

अन्वयार्थ : संयम का उपकरण, ज्ञान का उपकरण और भी अन्य उपकरण के लिए तथा किसी वस्तु के माँगने में एवं योग ध्यान आदि के करने में इच्छाकार करना चाहिए । तथा अन्य और जो परविषय अर्थात् औषधि आदि हैं उनके लिए या अन्य साधु शिष्य आदि के भी उपर्युक्त वस्तुओं में इच्छाकार करना चाहिए । सर्वत्र शुभ अनुष्ठान में परिणाम करना चाहिए ।

किस अपराध में मिथ्याकार होता है ?

जं दुक्कडं तु मिच्छा तं णेच्छदि दुक्कडं पुणो कादुं

भावेण य पडिवंâतो तस्सभवे दुक्कडेमिच्छा ॥132॥

अन्वयार्थ : जो दुष्कृत अर्थात् पाप हुआ है, वह मिथ्या होवे पुन: उस दोष को करना नहीं चाहता है और भाव से प्रतिक्रमण कर चुका है उसके दुष्कृत के होने पर मिथ्याकार होता है ।

तथाकार कब कहते हैं ?

वायणपडिछण्णाएउवदेसे सुत्तअत्थकहणाए

अवितहभेदत्ति पुणो पडिच्छणाए तधाकारो ॥133॥

अन्वयार्थ : गुरु के मुख से वाचना के ग्रहण करने में, उपदेश सुनने में और गुरु द्वारा सूत्र तथा अर्थ के कथन में यह सत्य है ऐसा कहना और पुन: श्रवण इच्छा में तथाकार होता है ।

निषेधिका और आसिका कब करना चाहिए ?

वंâदरपुलिणगुहादिसु पवेसकाले णिसीहियं कुज्जा

तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥134॥

अन्वयार्थ : कंदरा, पुलिन, गुफा आदि में प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए तथा वहाँ से निकलते समय आसिका करना चाहिए ।

आपृच्छा कब कहते हैं ?

आदावणादिगहणे सण्णा उब्भामगादिगमणे वा

विणयेणायरियादिसु आपुच्छा होदि कायव्वा ॥135॥

अन्वयार्थ : आतापन आदि के ग्रहण करने में, आहार आदि के लिए जाने में अथवा अन्य ग्राम आदि में जाने के लिए विनय से आचार्य आदि से पूछकर कार्य करना चाहिए ।

प्रतिपृच्छा कब करते हैं ?

जं किंचि महाकज्जं करणीयं पुच्छिऊण गुरुआदी

पुणरवि पुच्छदि साहू तं जाणसु होदि पडिपुच्छा ॥136॥

अन्वयार्थ : मुनियों को यदि कोई बड़े कार्य का अनुष्ठान करना है तो गुरु, प्रवर्तक, स्थविर आदि से एक बार पूछकर पुनरपि गुरुओं से

तथा साधुओं से पूछना प्रतिपृच्छा है ।

छन्दन समाचार कब करते हैं ?

गहिदुवकरणे विणए वदणसुत्तत्थपुच्छणादीसु

गणधरवसहादीणं अणुविंत्त छंदणिच्छाए ॥137॥

अन्वयार्थ : संयम की रक्षा और ज्ञानादि के कारण ऐसे आचार्यों आदि के द्वारा दिये गये पिच्छी, पुस्तक आदि को लेने पर विनय के समय, वन्दना के समय, सूत्र के अर्थ का प्रश्न आदि करने में आचार्य आदि की इच्छा के अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन नामक समाचार है ।

निमन्त्रणा समाचार कब करते हैं ?

गुरुसाहम्मियदव्वं पुच्छयमण्णं च गेणिहदुं इच्छे

तेसिं विणयेण पुणो णिमंतणा होइ कायव्वा ॥138॥

अन्वयार्थ : गुरु और अन्य संघस्थ साधुओं से यदि पुस्तक या कमण्डल आदि लेने की इच्छा हो तो नम्रतापूर्वक पुन: उनकी याचना करना अर्थात् पहले कोई वस्तु उनसे लेकर पुन: कार्य हो जाने पर वापस दे दी है और पुन: आवश्यकता पड़ने पर याचना करना सो निमन्त्रणा है ।

उपसंपत् का स्वरूप और उनके भेद बताइए ?

उवसंपया य णेया पंचविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा

विणए खेत्ते मग्गे सुहदुक्खे चेव सुत्ते य ॥139॥

अन्वयार्थ : उपसंपत् का अर्थ है उपसेवा अर्थात् अपना निवेदन करना। गुरुओं को अपना आत्मसमर्पण करना उपसंवत् है जो कि विनय आदि के विषय में किया जाता है इसलिए इसके पाँच भेद हैं -- विनयोपसंपत्, क्षेत्रोपसम्पत्, मार्गोपसंपत्, सुख-दु:खोपसम्पत् और सूत्रोपसंपत् ।

विनयोसंपत् किस प्रकार कहते हैं ?

पाहुणविणउवचारो तेसिं चावासभूमिसंपुच्छा

दाणाणुवत्तवादीं विणये उपसंपया णेया ॥140॥

अन्वयार्थ : आगन्तुक साधु को प्राहूणिक या पादोष्ण कहते हैं । उनका अंगमर्दन करना, प्रिय वचन बोलना आदि विनय है । उन्हें आसन आदि देना उपचार है ।

क्षेत्रोपसंपत् का स्वरूप

संजमतवगुणसीला जमणियमादी य जह्मि खेतह्मि

वड्ढंति तह्मि वासो खेत्ते उवसंपया णेया ॥141॥

अन्वयार्थ : जिस क्षेत्र में संयम, तप, गुण, शील तथा यम और नियम वृद्धि को प्राप्त होते हैं उस क्षेत्र में निवास करना यह क्षेत्रोपसंपत् है ।

मार्गोपसंपत् का स्वरूप

पाहुणवत्थव्वाणं अण्णोण्णागमणगमणसुहपुच्छा

उपसंपदा य मग्गे संजमतवणाणजोगजुत्ताणं ॥142॥

अन्वयार्थ : यदि आगन्तुक साधु किसी संघ में आये हैं तो वे साधु और अपने वसतिका स्थान आदि में ठहरे हुए साधु आपस में एक दूसरे से मार्ग के आने जाने से सम्बन्धित कुशल प्रश्न करते हैं अर्थात् 'आपका विहार सुख से हुआ है न ? 'आप वहाँ से सुखपूर्वक तो आ रहे हैं न ?' इत्यादि मार्ग विषयक सुख समाचार पूछना मार्गोपसंपत् है । आगन्तुक साधु-जो संयम, तप, ज्ञान और ध्यान से सहित हैं ऐसे साधु यदि विहार करते हुए आ रहे हैं तो वे आगन्तुक साधु कहलाते हैं ।

सुखदु:खोपसंपत् का स्वरूप

सुहदुक्खे उवयारो वसहीआहारभेसजादीहिं

तुह्मं अहंति वयणं सुहदुक्खुवसंपया णेया ॥143॥

अन्वयार्थ : यदि आगन्तुक साधु सुखी है और उन्हें यदि मार्ग में शिष्य आदि का लाभ हुआ है तो उन्हें उनके लिए उपयोगी पिच्छी कमण्डलु आदि देना और यदि आगन्तुक साधु दु:खी है, व्याधि आदि से पीड़ित हैं तो उनके लिए सुखप्रद शय्या संस्तर आदि आसन, औषध, अन्न-पान से तथा उनके हाथ-पैर दबाना आदि वैयावृत्ति से उनका उपकार करना । 'मैं आपका ही हूँ' आप जो आदेश करेंगे वह सब हम करेंगे' अथवा जों यह सब मेरा है वह सब आपका ही है ऐसे वचन बोलना यह सब सुखदु: खोपसंपत् है ।

सूत्रोपसंपत् का स्वरूप

उवसंपया य सुत्ते तिविहा सुत्तत्थतदुभया चेव

एक्केक्का विय तिविहा लोइय वेदे तहा समये ॥144॥

अन्वयार्थ : सूत्र विषयक उपसंपत् तीन प्रकार का है । सूत्रोपसंपत् अर्थोपसंपत् और सूत्रार्थोपसंपत् । सूत्रपठन में प्रयत्न करना यह सूत्रोपसंपत् है । अर्थग्रहण करने में प्रयत्न करना अर्थोपसंपत् है । सूत्र और अर्थ का अर्थात् दोनों का ग्रहण करना उभयसंपत् अर्थात् सूत्रार्थोपसंपत् है । इन तीन उपसंपत् के तीन-तीन भेद हैं । अर्थात् सूत्रोपसंपत् के तीन भेद हैं । अर्थोपसंपत् के तीन भेद हैं तथा सूत्रार्थोपसंपत् के तीन भेद हैं ।

पदविभागी समाचार

कोई सव्वसमत्थो सगुरुसुदं सव्वमागमित्ताणं

विणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण ॥145॥

अन्वयार्थ : कोई सर्वसमर्थ साधु अपने गुरु के सम्पूर्ण श्रुत को पढ़कर, अन्य शास्त्र पढने हेतु, अन्य संघ गमनार्थ विनय से पास आकर और प्रयत्नपूर्वक अपने गुरु से पूछता है ।

शिष्य गुरु से क्या पूछता है ?

तुज्झं पादपसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं

तिण्णि व पंच व छावा पुच्छाओ एत्थ सो कुणई ॥146॥

अन्वयार्थ : मुनि अपने आचार्य से प्रार्थना करता है, 'हे भगवन् ! आपके चरण कमलों की प्रसन्नता से, आपकी आज्ञा से अन्य आयतन को प्राप्त करना चाहता हूँ ।

शिष्य मुनि अपने साथ कितने मुनियों के साथ विहार करता है ?

एवं आपुच्छित्ता सगवरगुरुणा विसज्जिओ संतो

अप्पचउत्थो तदिओ बिदिओ वासो तदो णीदी ॥147॥

अन्वयार्थ : गुरु से पूछकर अपने पूज्य गुरु से आज्ञा लेकर वह मुनि अपने सहित चार या तीन, दो मुनि होकर वहाँ से विहार करता है । उत्कृष्ट रूप से चार मुनि मिलकर विहार करते हैं । मध्यम रूप से तीन मुनि और जघन्य रूप से दो मुनि मिलकर विहार करते हैं ।

विहार के भेद

गिहिदत्थे य विहारो विदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव

एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं ॥148॥

अन्वयार्थ : विहार के दो भेद है-गृहीतार्थ और अगृहीतार्थ । जो जीवादि पदार्थों के ज्ञाता महासाधु देशांतर में गमन करते हुए चारित्र का अनुष्ठान करते हैं उनका विहार गृहीतार्थ नाम का विहार है तथा जो अल्पज्ञानी चारित्र का पालन करते हुए विचरण करते हैं उनका विहार

अगृहीतार्थ नाम का विहार है ।

एकल विहारी साधु

तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य

पवियाआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥149॥

अन्वयार्थ : जो तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव तथा उत्तम संहनन और धैर्य गुणों से परिपूर्ण हैं, इतना ही नहीं, दीक्षा से, आगम से भी बलवान हैं अर्थात् तपश्चर्या से वृद्ध हैं (अधिक तपस्वी हैं), आचार सम्बन्धी सिद्धान्त में भी अक्षुण्ण (निष्णात) हैं । अर्थात् आचार ग्रंथों के अनुकूल चर्या में निपुण हैं ऐसे गुण-विशिष्ट मुनि को ही जिनेन्द्र देव ने एकलविहारी होने की अनुमति दी है ।

स्वछंद प्रवृत्ति करते हैं उनके लिए क्या आज्ञा है ?

स्वछंदगदागदीसयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे

स्वछंदजंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी ॥150॥

अन्वयार्थ : आहार, विहार, नीहार, उठना, बैठना, सोना और किसी वस्तु को उठाना या धरना इन सभी कार्यों में जो आगम के विरुद्ध मनमानी प्रवृत्ति करता है ऐसा कोई भी, मेरा शत्रु ही क्यों न हो, अकेला न रहें, मुनि की जो बात ही क्या है। उन्हें तो हमेशा गुरुओं के संघ में ही रहना चाहिए ।

स्वछन्द प्रवृत्ति में दोष

गुरु परिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलक्षा जडदा

भिभंलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ॥151॥

अन्वयार्थ : स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति में १. गुरु की निन्दा, २. श्रुत का विनाश, ३. तीर्थ की मलिनता, ४. मूढ़ता, ५. आकुलता, ६. कुशीलता, ७. पाश्र्वस्थता ये दोष आते हैं ।

एकल विहार में और भी अनेक दोष

वंâटयखण्णुय पडिणिय साणगोणादि सप्पमेच्छेहिं

पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव ॥152॥

अन्वयार्थ : कांटे, ठूंठ विरोधीजन, कुत्ता, गौ आदि तथ सर्प और मलेच्छा-अज्ञानी जनों से, विष से और अजीर्ण आदि रोगों से अपने आप में विपत्ति को प्राप्त कर लेता है ।

स्वच्छंदी मुनि गुरुकुल में गच्छ में भी अन्य मुनि के साथ रहना चाहते हैं या नहीं ?

गारविओ सिद्धी ओ माइल्लो अलसलुद्ध णिद्धम्मो

गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो ॥153॥

अन्वयार्थ : जो गारव से सहित है, आहार से लम्पट है, मायाचारी है, आलसी है, लोभी है और धर्म से रहित है ऐसा शिथिल मुनि संघ में रहते हुए भी साधु समूह को नहीं चाहता है । क्योंकि मेरे सर्व-दोष प्रगट होंगे ऐसा समझकर स्वतंत्र रहना चाहता है ।

एकल विहार में अन्य पापस्थान

आणाअणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य

संजमविराहणाविय एदे दुणिकाइया ठाणा ॥154॥

अन्वयार्थ : अकेले विहार करने से निम्न पाँच पापस्थान और दोष आते हैं । १. सर्वज्ञ जिनेश्वर के शासन का उल्लंघन होता है । २. अनवस्था दोष-स्वच्छंद मुनि का आचरण देखकर अन्य मुनि भी उसके समान आचरण करेंगे । ३. मिथ्यात्व का सेवन, ४. आत्मनाश, ५.

संयम विराधना।

किस गुरुकुल में रहना उचित

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य ॥155॥

अन्वयार्थ : जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार हैं वहाँ रहना उचित है और जहाँ ये पाँच आधार नहीं है वहाँ रहना उचित नहीं है ।

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर का स्वरूप

सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो ॥156॥

अन्वयार्थ : शिष्यों पर अनुग्रह करने में कुशल तथा जिनसे आचरण ग्रहण किया जाता है उन्हें आचार्य कहते हैं । धर्म के उपदेशक तथा जिनके पास आकर अध्ययन किया जाता उन्हें उपाध्याय कहते हैं । संघ की प्रवृत्ति करने वाले को प्रवर्तक कहते हैं । मर्यादा के उपदेशक को और जिनसे आचरण स्थिर होते हैं उन्हें स्थविर कहते हैं । गण के रक्षक और गण को धारण करने वाले को गणधर कहते हैं ।

विहार करते हुए पुस्तक या शिष्य को ग्रहण करने के लिए कौन योग्य हैं ?

जंतेणंतरलद्धं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं दव्वं
तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवंगुणो सोवि ॥157॥

अन्वयार्थ : मुनि को विहार करते हुए मार्ग के गाँवों में जो कुछ भी द्रव्य सचित्त-छात्र आदि, अचित्त-पुस्तक और मिश्र-पुस्तक आदि से सहित शिष्य आदि मिलते हैं उन सब द्रव्य के स्वामी आचार्य होते हैं ।

आचार्य के गुण

संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती
किरिआचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो ये ॥158॥
गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो
खिदिससिसायरसरसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥159॥

अन्वयार्थ : आचार्य संग्रह और अनुग्रह में कुशल, सूत्र के अर्थ में विशारद, र्कीति से प्रसिद्धि को प्राप्त, क्रिया और चारित्र में तत्पर और ग्रहण करने योग्य तथा उपादेय वचन बोलने वाले होते हैं । जो गंभीर हैं, दुर्धर्ष हैं, शूर हैं और धर्म की प्रभावना करने वाले हैं, पृथ्वी, चन्द्र और समुद्र के गुणों के सदृश हैं ।

आगंतुक पर-संघ मुनि के लिए आदरविधि

आएसं एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठं ति ॥160॥

अन्वयार्थ : पर संघ से प्रयास कर आते हुए आगन्तुक मुनि को देखकर संघ के सभी मुनि उठकर खड़े हो जाते हैं । किसलिए ? मुनि के प्रति वात्सल्य के लिए, सर्वज्ञ देव की आज्ञा पालन करने के लिए, आगन्तुक साधु को अपनाने के लिए और उनको प्रणाम करने के लिए वे संयत तत्क्षण खड़े हो जाते हैं ।

संघस्थ साधु और क्या करते हैं ?

पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च

पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥161॥

अन्वयार्थ : वे मुनि सात कदम आगे जाकर परस्पर में प्रणाम करके आगन्तुक के प्रति रत्नत्रय की कुशलता पूछें ।

संघस्थ साधु किस प्रकार से और कितने दिन तक सहयोग दें ?

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडयो दु दायव्वो

किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेऊं ॥162॥

अन्वयार्थ : आए हुए मुनि को तीन दिवसपर्यन्त नियम से स्वाध्याय, वन्दना, प्रतिक्रमणादिक क्रियाओं में एक साथ रहकर सहाय देना चाहिए । षडावश्यक क्रिया, आहार, निहार-शौच को जाना क्रियाओं में सहाय करना चाहिए ।

आगन्तुक मुनि और वास्तव्य मुनि की आपस में चर्या

आगंतुयवत्थव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णाहिं

अण्णोण्णकरणचरणं जाणणहेदुं परिक्खंति ॥163॥

अन्वयार्थ : आगन्तुक और वास्तव्य मुनि अन्य-अन्य क्रियाओं के द्वारा और प्रतिलेखन के द्वारा परस्पर में एक-दूसरे की क्रिया और चारित्र को जानने के लिए परीक्षा करते हैं ।

किन-किन स्थानों में परीक्षा करते हैं ?

आवासयठााणदिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे

सज्झाएगविहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥164॥

अन्वयार्थ : छह आवश्यक क्रिया आदि के कायोत्सर्ग आदि प्रसंगों में, किसी वस्तु को चक्षु इन्द्रिय से देखकर पुन: पिच्छिका से परिमार्जन कर ग्रहण करते हैं या नहीं करते ।

आगन्तुक मुनि का आचार्य श्री से निवेदन

विस्समिदो तद्दिवसं मीमांसित्ता णिवेदयदि गणिणे

विणएणागमकज्जं बिदिए तदिए व दिवसमि ॥165॥

अन्वयार्थ : आगन्तुक मुनि उस दिन विश्रांति लेकर और परीक्षा करके विनयपूर्वक अपने आने के कार्य को दूसरे या तीसरे दिन आचार्य के पास अपने विद्या अध्ययन हेतु आगमन के कार्य को निवेदन करते हैं ।

आचार्य द्वारा आगन्तुक मुनि से प्रश्न

आगंतुकणामकुलं गुरुदिक्खामाणवरिसवासं च

आगमणदिसासिक्खापडिकमणादी य गुरुपुच्छा ॥166॥

अन्वयार्थ : तुम्हारो नाम क्या है ? तुम्हारी कुल-गुरु परम्परा कहा है ? तुम्हारे गुरु कौन हैं ? तुम्हें दीक्षा लिये कितने दिन हुए हैं ? तुमने वर्षायोग कितने और कहाँ-कहाँ किये हैं ?

उत्तर सुनकर आचार्य क्या कहते हैं ?

जदि चरणकरणसुद्धो णिच्चुज्जुत्तो विणीदमेधावी

तस्सिट्ठं कधिदव्वं सगसुदसत्तीए भणिऊण ॥167॥

अन्वयार्थ : यदि आगन्तुक मुनि चारित्र और क्रियाओं में शुद्ध है, नित्य ही उद्यमशील है अर्थात् अतिचार रहित आचरण वाला है, विनयी और बुद्धिमान है तो वह जो पढ़ना चाहता है उसे संघ में स्वीकार करके उसे उसकी बुद्धि के अनुरूप अध्ययन कराना चाहिए ।

अनुकूल आगन्तुक मुनि का आगे क्या करना चाहिए ?

एवं विधिणुववण्णो एवं विधिणेव सोवि संगाहिदो

सुत्तत्थं सिवखंतो एवं कुज्जा पयत्तेण ॥169॥

पडिलेहिऊण सम्मं दव्वं खेत्तं च कालभावे य

विणयउवयार जुत्तेणज्झेदव्वं पयत्तेण ॥170॥

अन्वयार्थ : उपर्युक्त विधि से वह मुनि ठीक है और उपर्युक्त विधि से ही यदि आचार्य ने ग्रहण किया है तब वह प्रयत्नपूर्वक सूत्र के अर्थ को ग्रहण कराते हुए अध्ययन करावें । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सम्यक् प्रकार से शुद्धि करके विनय और उपचार से सहित होकर प्रयत्न-पूर्वक अध्ययन करना चाहिए ।

द्रव्यादि अशुद्धिपूर्वक स्वाध्याय से हानि

दव्वादिवदिक्कमणं करेदि सुत्तत्थ सिक्खलोहेण

असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च ॥171॥

अन्वयार्थ : यदि मुनि सूत्र और उसके निमित्त से होने वाला आत्म संस्कार रूप ज्ञान, उसके लोभ से / आसक्ति से पूर्वोक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि को उल्लंघन करके पढ़ता है तो १. असमाधि (सम्यक्त्व आदि की विराधना) २. अस्वाध्याय (शास्त्रादि का अलाभ) ३. कलह (आचार्य और शिष्य में परस्पर में कलह अथवा अन्य के साथ) ४. रोग (ज्वर, खांसी, श्वास, भगंदर आदि) ५. वियोग (आचार्य और शिष्य के एक जगह नहीं रह सकना) ।

जीव दया के निमित्त शुद्धि

संथारवासयाणं पाणीलेहाहिं दंसणुज्जोवे

जत्तेणुभये काले पडिलेहा होदि कायव्वा ॥172॥

अन्वयार्थ : हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश में दोनों काल में यत्न-पूर्वक संस्तर और स्थान आदि का प्रतिलेखन करना चाहिए ।

आगन्तुक मुनि का पर-गण में अनुशासन

उब्भामगादिगमणे उत्तरजोगे सकलज्जआरम्भे

इच्छाकारणिजुत्तो आपुच्छा होइ कायव्वा ॥173॥

अन्वयार्थ : किसी ग्राम में जाते समय या आहार के लिए गमन करने में, मल-मूत्रादि त्याग के लिए जाते समय, अपने किसी भी कार्य के प्रारम्भ में और भी किन्हीं क्रियाओं के आदि में आचार्यों की इच्छा के अनुसार पूछकर कार्य करते हैं ।

आगन्तुक मुनि को पर-गण में वैयावृत्ति

गच्छे वेज्जावच्चं गिलाणगुरु बालबुड्ढसेहाणं

जहजोगं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेणं ॥174॥

अन्वयार्थ : पर-गण में क्षीणशक्तिक, गुरु, बाल, वृद्ध और शैक्ष मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न-पूर्वक यथा-योग्य वैयावृत्ति करनी चाहिए ।

आगन्तुक मुनि द्वारा वन्दना आदि क्रियाएँ

दिवसियरादियपक्खियचाउम्मासियवरिस्सकिरियासु

रिसिदेववंदणादिसु सहजोगो होदि कायव्वो ॥175॥

अन्वयार्थ : दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक प्रतिक्रमण क्रियाओं में गुरु-वन्दना और देव-वन्दना आदि के साथ ही मिलकर करना चाहिए ।

शोधन कहाँ करना चाहिए ?

मणवयणकायजोगेणुप्पण्णवराध जस्स गच्छम्मि
मिच्छाकारं किच्चा णियत्तणं होदि कायव्वं ॥176॥

अन्वयार्थ : जिस गच्छ गण या चतुर्विध-संघ में व्रतादिकों में अतिचार रूप अपराध हुआ है उसी संघ में उस मुनि को मिथ्याकार पश्चात्ताप करके अपने अंतरंग से वह दोष निकाल देना चाहिए अथवा जिस किसी के साथ अपराध हो गया हो, उन्हीं से क्षमा कराके उस अपराध से अपने को दूर करना होता है ।

आर्यिकाओं के साथ बोलना या बैठना है या नहीं ?

अज्जागमणो काले ण अत्थिदव्वं तधेव एक्केण
ताहिं पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण ॥177॥
तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु
गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं ॥178॥

अन्वयार्थ : आर्यिका और स्त्रियों के आने के काल में उस मुनि को एकान्त में अकेले नहीं बैठना चाहिए और उसी प्रकार से उन आर्यिकाओं और स्त्रियों के साथ अकारण बहुलता से वचनालाप भी नहीं करना चाहिए । कदाचित् धर्म कार्य के प्रसंग में बोलना ठीक भी है। आर्यिकाओं के प्रश्न कार्यों में यदि एकाकिनी आर्यिका है तो एकाकी मुनि अपवाद के भय से उन्हें उत्तर न देवें । यदि वह आर्यिका अपने संघ की प्रधान आर्यिका गणिनी को आगे करके कुछ पूछे तो इस विधान से उन्हें मार्ग प्रभावना की इच्छा रखते हुए प्रतिपादन करना चाहिए अन्यथा नहीं ।

तरुण आर्यिका के साथ वचनालाप में दोष

तरुणों तरुणीए सह कहा व सल्लावणं च जदि कुज्जा
आणाकोवादीया पंचवि दोसा कदा तेण ॥179॥

अन्वयार्थ : तरुण मुनि तरुणी के साथ यदि कथा या वचनालाप करे तो उस मुनि ने आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयम-विराधना इन पाप के हेतुभूत पाँच दोषों को करता है ।

आर्यिकाएं के साथ आवास आदि क्रिया में दोष

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चिट्ठेदुं
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारभिक्खवोसरणं ॥180॥

अन्वयार्थ : आर्यिकाओं की वसतिका में मुनियों का रहना और वहाँ पर बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा व कायोत्सर्ग करना युक्त नहीं है ।

आर्यिकाओं के साथ संसर्ग में दोष

थेरं चिरपव्वइयं आयरियं बहुसुदं च तवसिं वा
ण गणेदि काममलिणो कुलमवि समणो विणासेइ ॥181॥

अन्वयार्थ : आठ गुण सहित सिद्धों को, नव केवल लब्धि युक्त अरिहंतों को, केवलज्ञान की ऋद्धि काम से मलिन-चित्त श्रमण स्थविर, चिर-दीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी को भी नहीं गिनता है, कुल का भी विनाश कर देता है ।

और भी किन-किन के साथ वार्तालाप न करें

कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सिंलगं वा
अचिरेणाल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥182॥

अन्वयार्थ : मुनि कन्या, विधवा, रानी, स्वेच्छाचारिणी तथा तपस्विनी महिला का आश्रय लेता हुआ तत्काल ही उसमें अपवाद को प्राप्त हो जाता है ।

आर्यिकाओं के प्रतिक्रमण आदि कैसे होंगे ?

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ॥183॥
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥184॥

अन्वयार्थ : जो धर्म के प्रेमी हैं, धर्म में दृढ़ हैं, संवेग-भाव सहित हैं, पाप से भीरू हैं, शुद्ध आचरण वाले हैं शिष्यों के संग्रह और अनुग्रह में कुशल हैं और हमेशा ही पाप-क्रिया की निवृत्ति से युक्त हैं । गम्भीर हैं, स्थिरचित हैं, मित बोलने वाले हैं, किंचित् कुतूहल करते हैं, चिर-दीक्षित हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं, ऐसे मुनि आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं ।

गुण-रहित आचार्य द्वारा आर्यिकाओं का गणधर बनाने का निषेध

एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्तं करंदि अज्जाणं
चत्तारि कालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज ॥185॥

अन्वयार्थ : उपर्युक्त गुणों से रहित मुनि, आचार्य यदि आर्यिकाओं का प्रतिक्रमण आदि सुनकर उन्हें प्रायश्चित आदि देने रूप गणधरत्व करता है तो उसके चार कालों (गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ अथवा दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण काल और आत्म-संस्कार) की विराधना हो जाती है ।

परगणस्थ आगंतुक मुनि को क्या करना चाहिए ?

कबहुणा भणिदेण दु जा इच्छा गणधरस्स सा सव्वा
कादव्वा तेण भवे एसेव विधी दु सेसाणं ॥186॥

अन्वयार्थ : बहुत कहने से क्या, पर-गण में स्थित मुनि को, उन आचार्य को जो इष्ट है सभी प्रकार से वही करना चाहिए । यही विधि शेष मुनियों के लिए भी है ।

आर्यिकाओं के लिए क्या आदेश है ?

एसो अज्जाणांपि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं
सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वोजण्धाजोग्गं ॥187॥

अन्वयार्थ : पूर्व में जैसा समाचार कहा गया है वैसे ही यह समाचार आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण अहोरात्र में यथायोग्य करना चाहिए । वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण समाचार विधि आचरित करनी चाहिए ।

आर्यिकाएँ वसतिका में अपना काल किस प्रकार से व्यतीत करती हैं ?

अण्णोण्णणुवूâलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ
गयरोसवेरमायासलज्जमज्जादकिरियाओ ॥188॥
अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए
तवविणयसंजमेसु ये अविरहिदुपओगजोगजुत्ताओ ॥189॥

अन्वयार्थ : परस्पर में एक दूसरे के अनुकूल और परस्पर में एक दूसरे की रक्षा में तत्पर, क्रोध, वैर और मायाचार से रहित तथा लज्जा, मर्यादा और क्रियाओं से सहित रहती हैं । पढ़ने में, पाठ करने में, सुनने में, कहने में और अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन में, तथा तप में, विनय में और संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं ।

आर्यिकाओं के वस्त्र कैसे होते हैं ?

अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ

धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ ॥190॥

अन्वयार्थ : विकार रहित वस्त्र और वेष को धारण करने वाली, पसीना-युक्त मैल और धूलि से लिप्त रहती हुई वे शरीर-संस्कार से शून्य रहती हैं । धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुकूल निर्दोष चर्या को करती हैं ।

आर्यिकाएँ अपने आवास में कैसे रहती हैं ?

अगिहत्थमिस्सणिलए असिण्णवाए विसुद्धसंचारे

दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥191॥

अन्वयार्थ : जो गृहस्थों से मिश्रित न हो, जिसमें चोर आदि का आना-जाना न हो और जो विशुद्ध-संचरण के योग्य ऐसी वसतिका में दो या तीन या बहुत-सी आर्यिकाएँ साथ रहती हैं ।

आर्यिकाएँ परगृह में जा सकती हैं ?

ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे

गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥192॥

अन्वयार्थ : आर्यिकाओं के लिए गृहस्थ के घर और यतिओं की वसतिकाएँ पर-गृह हैं । बिना प्रयोजन के आर्यिकाएँ पर-गृह में न जायें ।

आर्यिकाओं द्वारा निषिद्ध क्रियायें

रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे

विरदाण पादमक्खणधोवणगेयं च ण य कुज्जा ॥193॥

अन्वयार्थ : रोना, नहलाना, खिलाना, भोजन बनाना छह प्रकार का आरम्भ करना, यतियों के पैर में मालिश करना, धोना और गीत गाना, आर्यिकाएँ इन कार्यों को नहीं करें ।

आर्यिकाएँ आहार के लिए कैसे निकलती हैं ?

तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्ण रक्खाओ

थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥194॥

अन्वयार्थ : तीन या पाँच या सात आर्यिकाएँ आपस में रक्षा में तत्पर होती हुई वृद्धा आर्यिकाओं के साथ मिलकर हमेशा आहार के लिए निकलती हैं ।

आचार्य आदि की वन्दना आर्यिकाएँ किस प्रकार करती हैं ?

पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य

परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥195॥

अन्वयार्थ : आर्यिकाएँ आचार्य को पाँच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से और साधु को सात हाथ से दूर रहकर गवासन से ही वन्दना करती हैं ।

समाचार पालन करने का फल

एवंविधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ

ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥196॥

अन्वयार्थ : उपर्युक्त विधानरूप चर्या का जो साधु और आर्यिकाएँ आचरण करते हैं वे जगत में पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त

कर सिद्ध हो जाते हैं ।

ग्रंथकर्ता द्वारा निवेदन

एवं सामाचारो बहुभेदो वण्णिदो समासेण

वित्थारसमावण्णो वत्थरिदव्वो बहुजणेहिं ॥197॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार से अनेक भेदरूप समाचार को मैंने संक्षेप से कहा है । बुद्धिमानों को इसका विस्तार जानकर इसे विस्तृत करना चाहिए ।

मंगलाचरण

वंदित्तु जिणवराणं तिहुयण जयमंगलोववेदाणं ।

कंचणपियंगुविद्दुमघण कुंदमुणालवण्णाणं ॥769॥

अन्वयार्थ : सुवर्ण, शिरिशपुष्प, मूंगा, धन, कुंद-पुष्प और कमलनाल के सामान वर्ण वाले त्रिभुवन में जय और मंगल से युक्त ऐसे तीर्थंकरों को नमस्कार करके, मैं अनागार भावना को कहूंगा ।

अनगार-भावना सूत्र करने की प्रतिज्ञा

अणयारमहरिसीणं णाइंदणिंरदइंद महिदाणं ।

वोच्छामि विविहसारं भावणसुत्तं गुणमहंतं ॥770॥

अन्वयार्थ : नागेन्द्र, नरेन्द और इन्द्रों से पूजित अनगार मर्हिषयों के निमित्त गुणों से श्रेष्ठ विविध सारभूत ऐसे भावनासूत्र को मैं कहूँगा ।

संग्रह सूत्रों के भेद

लगं वदं च सुद्धी वसदिविहारं च भिक्ख णाणं च ।

उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ॥771॥

अन्वयार्थ : लिंग-शुद्धि, व्रत-शुद्धि, वसति-शुद्धि, विहार-शुद्धि, भिक्षा-शुद्धि, ज्ञान-शुद्धि, उज्झन-शुद्धि, वाक्य-शुद्धि, तप-शुद्धि, और ध्यान-शुद्धि ये दस अनगार भावना सूत्र के दस भेद हैं ।

सूत्रों के अध्ययन का प्रयोजन

एदमणयारसुत्तं दसविध पद विणयअत्थसंजुत्तं ।

जो पढइ भत्तिजुत्तो तस्स पणस्संति पावाइं ॥772॥

णिस्सेसदेसिदमिणं सुत्तं धीरजणबहुमदमुदारं ।

अणगार भावणमिणं सुसमणपरिकित्तणं सुणह ॥773॥

अन्वयार्थ : इन विनय और अर्थ से संयुक्त दस प्रकार के पदरूप जनगार सूत्रों को जो भक्ति सहित पढ़ता है उसके पाप नष्ट हो जाते हैं । ये सूत्र नि:शेष शोभनाचार आदि सब सिद्धान्तों के दर्शक हैं, धीर जनों से बहुमान्य हैं, उदार हैं और सुश्रमण की कीर्ति करने वाले हैं। इन अनगार भावनाओं को (श्रृणुत) तुम सुनो ।

निर्ग्रन्थ महर्षि

णग्गंथमहरिसीणं अणयारचरित्त जुत्तिगुत्ताणं ।

णिच्छिदमहातवाणं वोच्छामि गुणे गुणधराणं ॥774॥

अन्वयार्थ : अनगार के चरित्र से सहित महातप में लगे हुए, गुणों को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ महर्षियों के गुणों को कहते हैं ।

लिंग-शुद्धि

चलचवलजीविदमिणं णाऊण माणुसत्तणमसारं ।

णिव्विण्णाकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया ॥775॥

अन्वयार्थ : यह मनुष्य भव चल-अस्थिर प्रतिसमय में विनश्वर है। प्रतिसमय आयु कम होती है अत: यह चल है । मरण के आवीचिमरण और तद्भव-मरण ऐसे दो भेद हैं। जैसा मनुष्य भव चल रहा है वैसा वह चपल है अर्थात् विषादिकों से इसका नाश होता है, आकाश में बिजली प्रकट होकर शीघ्र ही नष्ट होती है वैसा मनुष्य भव शीघ्र नष्ट होता है । यह असार है ऐसा जानकर कामभोग से विरक्त मुनिजन धर्म में निर्ग्रन्थतारूप चारित्र में स्थित होते हैं ।

मुनियों का निर्मल स्वरूप

णिम्मालियसुमिणाविय धणकणयसमिद्धबंधवजणं च ।

पयहंति वीर पुरिसा विरत्तकामा गिहावासे ॥776॥

अन्वयार्थ : गृहवास विरक्त हुए वीर पुरुष उतारी हुई माला के समान धन सुवर्ण से समृद्ध बांधव जन को छोड़ देते हैं ।

निर्ग्रन्थ विषयक शुद्धि

जम्मणमरणुव्विगा भीदा संसारवासमसुभस्स ।

रोचंति जणवरमदं वापयणं वड्ढमाणस्स ॥777॥

पवरवरधम्मतित्थं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।

तिविहेण सद्दहंति य णत्थि इदो उत्तरं अण्णं ॥778॥

अन्वयार्थ : जो जन्म मरण से उद्विग्न हैं, संसारवास में दु:ख से भयभीत हैं, वे जिनवर के मतरूप वर्धमान के प्रवचन का श्रद्धान करते हैं और जिनवर, वृषभदेव और वर्धमान के श्रेष्ठ धर्मतीर्थ का मन वचन काय से श्रद्धान करते हैं । क्योंकि इससे श्रेष्ठ अन्य तीर्थ नहीं है ।

तप-शुद्धि

उच्छाहणिच्छिदमदी ववसिदववसाय वद्धकच्छा य ।

भावाणुरायरत्ता जिणपण्णात्तम्मि धम्मम्मि ॥779॥

अन्वयार्थ : अनशनादिक बारह तपों में पूर्ण तत्पर होने वाले, हमेशा चारित्रचरण में प्रयत्नशील रहने वाले, बद्धक-कर्मों का नाश करने के कार्य में अपने मन को सदैव तत्पर रखने वाले, परमार्थहित करने वाले,अर्हद्भक्ति में अनुरक्त रहने वाले अथवा जीवादि विषयक जो श्रद्धान करते हैं ।

चारित्र-शुद्धि

धम्ममणुत्तरमिमं कम्ममलपडलपाडयं जिणक्खादं।

संवेगजायसड्ढा गिण्हंति महव्वदा पंच ॥

अन्वयार्थ : यह जिनधर्म उत्तमक्षमादि दशलक्षण स्वरूप है और अद्वितीय है। कर्म पटलों का नाश करने में समर्थ है। जिन भगवान ने इसका निरूपण आगम में किया हैं। वैराग्य से र्हिषत होकर मुनिराज महाव्रतों को धर्म समझकर धारण करते हैं।

व्रतशुद्धि

सच्चवयणं अहिंसा अदत्तपरिवज्जणं च रोचंति ।

तह बंभचेरगुत्ती परिग्गहादो विमुत्ति च ॥781॥

अन्वयार्थ : सत्य भाषण बोलना, जीव हिंसा का त्याग करना, नहीं दी हुई वस्तु ग्रहण न करना, ब्रह्मचर्य का रक्षण करना और परिग्रहों का त्याग करना ऐसे पाँच व्रतों पर वे मुनि श्रद्धा करते हैं ।

अन्वय मुख से महाव्रतों का वर्णन

ते सव्वगंथमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा ।

वोसट्टचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥783॥

अन्वयार्थ : वे ग्रंथों (परिग्रहों) से रहित, निर्भय, निष्परिग्रही यथाजात रूपधारी, संस्कार से रहित मुनि जिनवर के धर्म को साथ में ले जाते हैं ।

सर्व ग्रंथों का त्याग किस प्रकार?

सव्वारंभणियत्ता जुत्ता जिणदेसिदम्मि धम्मम्मि ।

ण य इच्छंति ममत्तिं परिग्गहे वालमित्तम्मि ॥784॥

अन्वयार्थ : जिस कारण वे मुनि असि, मषि, कृषि, वाणिज्य आदि व्यापार से रहित हो चुके हैं, जिनेन्द्र देव कथित धर्म में उद्युक हैं तथा श्रामण्य के अयोग्य बाल मात्र भी परिग्रह के विषय में ममता नहीं करते हैं क्योंकि वह सर्वग्रंथ से विमुक्त हैं ।

निर्मम किस प्रकार?

अपरिग्गहा अणिच्छा संतुट्ठा सुट्ठिदा चरित्तम्मि ।

अवि णीए वि सरीरे करेंति मुणी ममत्तिं ते ॥785॥

अन्वयार्थ : जो मुनि अपरिग्रही हैं, सन्तुष्ट हैं तथा चारित्र में स्थित हैं वे मुनि अपने शरीर में भी ममत्व नहीं करते हैं ।

यथाजात क्यों?

त्ते णिम्ममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा ।

सवणा अप्पडिबद्धा विज्जू जह दिट्ठणट्ठा वा ॥786॥

अन्वयार्थ : जो अपने शरीर में भी निर्मोही हैं । चलते हुए जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता है वही पर ठहर जाते हैं किसी से कुछ अपेक्षा नहीं करते हैं, वे यति किसी से बंधे नहीं रहते हैं । स्वतन्त्र होते हैं । बिजली के समान दिखकर विलीन हो जाते हैं ।

वसति शुद्धि

गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा ।

सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य ॥787॥

अन्वयार्थ : जो बाड़ से वेष्टित है उसे ग्राम कहते हैं, उसमें एक रात्रि निवास करते हैं, क्योंकि एक रात्रि में ही वहाँ का सर्व अनुभव आ जाता है । चार गोपुरों से सहित को नगर कहते हैं । वहाँ पर पाँच दिवस ठहरते हैं क्योंकि पाँच दिन में ही वहाँ के सर्व तीर्थ आदि यात्राओं की सिद्धि हो जाती है । प्रासुक विहारी—सावद्य का परिहार करने में तत्पर हैं अर्थात् जन्तु रहित स्थानों में विहार करने वाले हैं । ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच दिन रहते हैं, क्योंकि अधिक रहने से औद्देशिक आदि दोष हो जाते हैं और मोह आदि भी हो जाता है इसलिए वे अधिक नहीं रहते हैं ।

एकान्त में रहने से सुखलाभ कैसे?

एगंतं मग्गंता सुसमणा वरगंधहत्थिणो धीरा ।

सुक्कज्झाणरदीया मुत्तिसुहं उत्तमं पत्ता ॥788॥

अन्वयार्थ : जैसे गन्धहस्ती एकान्त का आश्रय लेकर सुखी होते हैं वैसे ही महामुनि एकान्त का आश्रय लेकर सुखी होते हैं क्योंकि वहाँ पर वह शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं ।

मुनिराज धीर किस प्रकार?

एयाइणो अविहला गिरिकंदरेसु सप्पुरिसा ।
धीरा अदीणमणसा रममाणा वीरवयणम्मि ॥789॥
वसधिसु अप्पिडिबद्धा ण ते ममत्तिं करेंति वसधीसु ।
सुण्णागारमसाणे वसंति ते वीरवसधीसु ॥790॥

अन्वयार्थ : वे मुनि सहाय से रहित, विह्वलता से रहित, धैर्य, संतोष, सत्त्व, उत्साह से सम्पन्न होकर पर्वत के जल विदीर्ण प्रदेश में (कंदरा में) रहते हैं । वे सत्पुरुष, धैर्यशाली, दीनतारहित होकर वीरप्रभु के वचनों में क्रीड़ा करते हैं । वीर के वचन -- शरीर से आत्मा भिन्न है, शरीर अचेतन है, आत्मा ज्ञानी है इत्यादि भेद का प्रतिपादन करने वाले हैं इनके चिंतन में वे नित्य तत्पर रहते हैं । वे मुनि वसतिका में ममत्व नहीं करते हैं अर्थात् यह वसतिका मेरी हैं इसमें मैं रहता हूँ ऐसा अभिप्राय उनके मन में नहीं रहता है । उनको वसतिका में रहने का मोह नहीं रहता है । वे शून्य घरों में निर्भय होकर रहते हैं । श्मशान में भयरहित होकर रहते हैं । ये स्थान महाभयंकर होने पर भी नि:संग ऐसे यु मुनिराज रहते हैं अत: इनसे अधिक शूर और कौन हो सकता है ।

मुनिराज के सत्त्व गुण

पब्भार कंदरेसु अ कापुरिसभयंकरेसु सप्पुरिसा ।
वसधी अभिरोचति य सावदबहुघोर गंभीरा ॥791॥
एयंतम्मि वसंता वयवग्घतरच्छ अच्छभल्लाणं ।
आगुंजियमारसियं सुणंति सद्दं गिरिगुहासु ॥792॥
रिंत्तचरसउणाणं णाणारुदरसिदभीदसद्दालं ।
उण्णावेंति वणंतं जत्थ वसंता समणसीहा ॥793॥
सीहा इव णरसीहा पव्वयतडकडयकंदरगुहासु ।
जिणवयणमणुमणंता अणुविग्गमणा परिवसंति ॥794॥
सावदसयाणुचरिये परिभयभीमंधयारगंभीरे ।
धम्माणुरायरत्ता वसंति रिंत्त गिरिगुहासु ॥795॥

अन्वयार्थ : पर्वत के तट और जलाघात होने से बने हुए पर्वत के निम्न प्रदेश-कंदरादिक इनमें वे धीर मुनि रहते हैं । ये प्रदेश धैर्य रहित पुरुषों को महाभयप्रद हैं । परन्तु ऐसे प्रदेशों में रहना सत्पुरुषों को पसंद होता है । ये सत्पुरुष जहाँ सिंह, बाघ, सर्प इत्यादि प्राणी प्राणी निवास करते हैं, ऐसे रौद्रवन प्रदेशों में वास करना इनको पसंद होता है । तथा पर्वत की गुहा में रहने वाले मुनिराज भेड़िया, बाघ, चीता, रीछ, भालू आदि के शब्द गुंजते हुए सुनते हैं तथा इन प्राणियों की घोर गर्जना सुनते हैं तो भी अपने धैर्य से चलित नहीं होते हैं । रात में घूमने वाले घूघू आदि पक्षियों के अनेक प्रकार के रोने सहित भयंकर शब्द जिस वन में प्रतिशब्द युक्त होते हैं ऐसे वन में वे मुनिसिंह रहते हैं । तथा सिंह के समान ये नरश्रेष्ठ पर्वत के तटपर और पर्वत पर ऊध्व भाग पर तथा पर्वत के कंदरा में जिनवचन (जिनागम) को मन में स्मरण करते हुए निर्भय होकर रहते हैं । सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी जहाँ हमेशा विचरते हैं, जहाँ हमेशा भय उत्पन्न होता है, जहाँ सूर्य किरणों का भी प्रवेश नहीं होता है । ऐसे पर्वत की गुहाओं में धर्मानुरागी चारित्र तत्पर मुनि रहते हैं ।

वन में रात्रि में किस प्रकार से रहते हैं ?

सज्झायझाणजुता रिंत्त ण सुवंति ते पायमं तु ।
सुत्तत्थ चिंतंता विद्दाय वसं ण गच्छंति ॥796॥

अन्वयार्थ : स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर हुए वे मुनि प्रथम व अंतिम प्रहर में रात्रि में नहीं सोते हैं । वे सूत्र और अर्थ का चिन्तवन करते हुए निद्रा के वश में नहीं होते हैं ।

वन में कैसे आसन लगाते हैं ?

पलियंकणिसिज्जगदा वीरासणएयपाससाईया ।
ठाणुक्कडेहिं मुणिणो खवंति रिंत्त गिरिगुहासु ॥797॥
अन्वयार्थ : पर्यंक आसन से बैठे हुए, वीरासन से बैठे हुए या एक पसवाड़े से लेटे हुए अथवा खड़े हुए या उत्कुटिकासन से बैठे हुए वे मुनि पर्वत की गुफाओं में रात्रि को बिता देते हैं ।

प्रतिकार रहित और कांक्षा रहित

उवधिभरविप्पमुक्का वोसट्टंगा णिरंबरा धीरा ।
णिक्किंचण परिसुद्धा साधू सिद्धिं वि मग्गंति ॥798॥
अन्वयार्थ : वे साधु इहलोक की आकांक्षा, परलोक की आकांक्षा और परीषहों का प्रतिकार नहीं करते हैं ।

विहार शुद्धि

मुत्ता णिरावावेक्खा सच्छंद विहारिणो जहा वादो ।
हडंति णिरुव्विग्गा णयरायरमंडियं वसुहं ॥799॥
अन्वयार्थ : मुनिराज मुक्त सर्वसंग से रहित, निरपेक्ष (किंचित् भी इच्छा न रखते हुए) वायु के सम्मान स्वतन्त्र हुए नगर और खान से मण्डित इस पृथ्वीमण्डल पर विहार करते हैं ।

ईर्यापथ जन्य कर्म का बन्ध क्यों नहीं?

वसुधम्मि वि विहरंता पिंड ण करेंति कस्सइ कयाई ।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥800॥
अन्वयार्थ : पृथ्वीतल पर विहार करते हुए भी ये मुनि किसी भी जीव विशेष को कभी भी पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं, वे सदा जीव—दया में प्रवृत्त रहते हैं । जैसे जननी पुत्र—पुत्रियों पर दया करती है वैसे ही वे भी कभी भी किसी प्राणी को व्यथा नहीं उपजाते हैं सर्वत्र दयालु रहते हैं । प्रमाद रहित ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक चलते हैं । अत: कर्मबन्ध नहीं होता है ।

विहार करते हुए पाप का परिहार कैसे?

जीवाजीवविहत्तिं णाणुज्जोएण सुट्ठु पाऊण ।
तो परिहरंति धीरा सावज्जं जेत्तियं चि ॥801॥
सावज्जकरण जोग्गं सव्वं तिविहेण तियरणाविसुद्धं ।
वज्जंति वज्जभीरू जावजीवाय णिग्गंथा ॥802॥
अन्वयार्थ : वे साधु जीव और उसके नर नारकादि पर्यायों को खूब जानते हैं, तथा अजीव पदार्थों को पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद और पर्यायों को ज्ञान के प्रकाश से जानते हैं अत: जो कुछ दोष हैं उनका वे त्याग करते हैं । वे साधु दोष सहित जो इंद्रिय अर्थात् परिणाम हैं अथवा दोष सहित जो क्रिया हैं उनका मन—वचन—काय से कृत कारित और अनुमति से आजन्म त्याग करते हैं क्योंकि वे साधु पापों से डरते हैं ।

सावद्यों का त्याग

तणरुक्खहरिदछेदणतयपत्तपवालकंदमूलाइं ।
फलपुफबीयघादं ण करेंति मुणी ण कारेंति ॥803॥
पुढवीय समारंभं जलपवणग्गीतसाणमारंभं ।
ण करेंति ण कारेंति य कारेंतं णाणुमोदंति ॥804॥
णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु ।

अप्पट्ठं चिंतंता हवंति अव्वावडा साहू ॥805॥

अन्वयार्थ : तृण, वृक्ष हरि वनस्पति का छेदन तथा छाल, पत्ते, कोंपल कन्द-मूल तथा फल, पुष्प और बीज इनका घात मुनि न स्वयं करते हैं और न कराते हैं । वे मुनि पृथ्वी का समारम्भ, जल, वायु, अग्नि और त्रस जीवों का आरम्भ न स्वयं करते हैं न कराते हैं और न करते हुए को अनुमोदना ही देते हैं । वे श्रमण शस्त्र और दण्ड से रहित हैं, सर्व प्राणी और भूतों में समभावी हैं । आत्मा के हित का चिंतवन करते हुए वे साधु इन व्यापारों से रहित होते हैं ।

विहार करते हुए परिणाम

उवसंतादीणमणा उवक्खसीला हवंति मज्झत्था ।
णिहुदा अलोलमसठा अबिह्यिया कामभोगेसु ॥806॥
जिणवयणमणुगणेंता संसारमहब्भयं हि चिंतंता ।
गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्ममरणेसु ॥807॥

अन्वयार्थ : वे उपशान्त भावी, दीन मन से रहित, उपेक्षा स्वभाव वाले, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, मूर्खता रहित और काम भोगों से विस्मय रहित होते हैं । वे जिन-वचनों का अनुचिंतन करते हुए तथा संसार के महान्, भय का विचार करते हुए गर्भवास से भयभीत रहते हैं तथा जन्म और मरणों से भी भयभीत रहते हैं ।

गर्भवास का भय

घोरे णिरयसरिच्छे कुंभीपाए सुपच्चमाणाणं ।
रुहिरचलाविलपउरे वसिदव्वं गब्भवसदीसु ॥808॥

अन्वयार्थ : नरक के समान भयंकर सन्तप्यमान कुम्भीपाक सदृश रुधिर के चलायमान कीचड़ से व्याप्त गर्भवास में नव महीने तक रहना पड़ेगा ।

गर्भवास से भय का प्रतिकार

दिट्ठ परमट्ठसारा विण्णाणवियक्खणाय बुद्धीए ।
णाणकयदीवियाए अगब्भवसदी विमग्गंति ॥809॥

अन्वयार्थ : वे मुनि संसार शरीर भोगों के स्वरूप को जान चुके हैं । अत: वे मतिज्ञान आदि रूप अतिशय कुशल बुद्धि से और श्रुतज्ञान रूप दीपक से गर्भवास-पुनर्जन्म रहित वसति की खोज करते हैं अर्थात् मोक्ष को चाहते हैं ।

विहार करते हुए भावना

भावेंति भावणरदा वइरग्गं वीदरागाणं च ।
णाणेण दंसणेण य चरित्तजोएण विरिएण ॥810॥
देहे णिरावयक्खा अप्पाणं दमरुई दमेमाणा ।
धिदिपग्गहपग्गहिदा छिंदंति भवस्स मूलाइं ॥811॥

अन्वयार्थ : भावना में लीन वे मुनि वीतराग तीर्थंकरों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा वीर्य की भावना करते हैं और साथ-साथ वैराग्य की भावना करते हैं । शरीर से निरपेक्ष, इन्द्रियजयी, आत्मा का दमन करते हुए धैर्य की रस्सी का अवलम्बन लेते हुए संसार के मूल का छेदन कर देते हैं ।

भिक्षाशुद्धि

छट्ठट्ठमभत्तेहिं पारेंति य परधरम्मि भिक्खाए ।
जमणट्ठं भुंजंति य ण वि य पयामं रसट्ठाए ॥812॥

अन्वयार्थ : वेला, तेला, चौला, पाँच उपवास आदि करके परगृह में कृत, कारित, अनुमोदना से रहित तथा लाभ-अलाभ में समान बुद्धि रखते हुए भिक्षा विधि से पारणा करते हैं। चारित्र के साधन के लिए, क्षुधा का उपशमन करने के लिए, क्षुधा का उपशमन करने के लिए तथा मोक्ष की यात्रा के साधन मात्र हेतु आहार लेते हैं। जितने मात्र आहार से स्वाध्याय आदि में प्रवृत्ति होती है उतना मात्र ही लेते हैं किन्तु अजीर्ण होकर स्वाध्याय आदि में बाधा आ जाय ऐसा आहार नहीं लेते हैं।

कितनी शुद्धियों सहित आहार?

णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविविंज्जियं मलविसुद्धं ।
भुंजंति पाणिपत्ते परेण दत्तं परघरम्मि ॥813॥

अन्वयार्थ : मन वचन काय से गुणित कृत कारित अनुमोदना रूप नव कोटि से शुद्ध, दस दोष से रहित, चौदह मल दोष से विशुद्ध, परगृह में पर के द्वारा दिये गए आहार को पाणिपात्र में ग्रहण करते हैं।

दोष सहित आहार का निषेध

उद्देसिय कीदयडं अण्णादं संकिदं अभिहडं च ।
सुत्तप्पडिकूडाणि य पडिसिद्धं तं विवज्जंति ॥814॥

अन्वयार्थ : उद्देश अर्थात् दोष सहित, क्रीत, अज्ञात, शंकित, अभिघट दोष सहित, आगम के विरूद्ध आहार निषिद्ध है, ऐसा आहार मुनि छोड़ देते हैं।

आहार हेतु भ्रमण

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु ।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥815॥

अन्वयार्थ : साधु भिक्षा के लिए मेरे यहाँ आयेंगे ऐसा जिन गृहस्थों को मालूम नहीं है उनका आहार 'अज्ञात' है, तथा 'आज मुझे उसके यहाँ आहार हेतु जाना है' इस प्रकार से मुनि ने स्वयं उसे अनुमति नहीं दी है और न ऐसा उनका अभिप्राय है वह आहार 'अनुज्ञात' अथवा अननुज्ञात है।

रसना इन्द्रिय पर जय

सीदलमसीदलं वा सुक्कं लुक्खं सिणिद्धं सुद्धं वा ।
लोणिदमलोणिदं वा भुंजंति मुणी अणासादं ॥816॥

अन्वयार्थ : ठंडा हो या गरम, सूखा हो या रुखा, चिकनाई हो या रहित, लवण सहित हो या रहित-ऐसे स्वाद रहित आहार को मुनि ग्रहण करते हैं।

'यमन' शब्द का अर्थ

दुक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंत्ति मुणी पाणाधारणणिमितं ।
पाणं धम्मणिम्मिं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं ॥817॥

अन्वयार्थ : मुनि धुरे में ओंगन देने मात्र के सदृश, प्राणों के धारण हेतु आहार करते हैं-प्राणों को धर्म के लिए और धर्म को भी मोक्ष के लिए आचरते हैं।

लाभ-अलाभ में समताभाव

लद्धेण होंति तुट्ठा ण वि य अलद्धेण दुम्ममणा होंति ।
दुक्खे सुहे य मुणिणो मज्झत्थमणाउला होंति ॥818॥

अन्वयार्थ : आहार आदि मिल जाने पर संतुष्ट नहीं होते हैं और नहीं मिलने पर भी खेद खिन्न नहीं होते हैं, वे मुनि दु:ख और सुख में आकुलता रहित मध्यस्थ रहते हैं ।

हार में स्थिरता

ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं ण वि य किंचि जायंति ।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता ॥819॥
देहि त्ति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वोत्तुं ।
अवि णीदि अला भेणं ण य मोणं भंजदे धीरा ॥820॥

अन्वयार्थ : भोजन के लिए किसी की स्तुति नहीं करते हैं और न कुछ भी याचना करते हैं । वे मुनि बिना बोले मौनव्रत पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं । 'दे दो' इस प्रकार से दीनता से कलुषित ऐसा वचन नहीं बोलना चाहते हैं, आहार के न मिलने पर वापस आ जाते हैं, किन्तु वे धीर मौन का भंग नहीं करते हैं ।

याचना रहित वे स्वयं क्या करते हैं?

पयणं व पायणं वा ण करेंति अणेव ते करावेंति ।
पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण ॥821॥

अन्वयार्थ : मुनिराज भोजन पकाना या पकवाना भी नहीं करते हैं और न कराते हैं, वे पकाने के आरम्भ से निवृत्त हो चुके हैं, भिक्षा मात्र से ही सन्तुष्ट रहते हैं । काय को दिखाने मात्र से वे भिक्षा के लिए पर्यटन करते हैं ।

प्राप्त हुए आहार का ग्रहण

असणं जदि वा पाणं खज्जं भोजं लिज्ज पेज्जं वा ।
पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु ॥822॥
जं होज्ज अविव्वण्णं पासुग पसत्थं तु एसणासुद्धं ।
भुंजंति पाणिपत्ते लद्धूण य गोयरग्गम्मि ॥823॥

अन्वयार्थ : अशन अथवा पान, खाद्य या भोज्य लेह्य या पेय इन पदार्थों को देखकर शोधकर करपात्र में शुद्ध आहार को ग्रहण करते हैं । जो एषणा समिति से शुद्ध है उसे आहार के समय प्राप्त कर पाणिपात्र में आहार करते हैं । एषणा समिति के छियालीस दोष और बत्तीस अन्तरायों से रहित हैं । ऐसा भोजन आहार की बेला में प्राप्त करके वे मुनि अपने पाणिपात्र में ग्रहण करते हैं ।

किस प्रकार के आहार का ग्रहण नहीं?

जं होज्ज बेहिअं तेहिअं च वेवण्णजंतुसंसिट्ठं ।
अप्पासुगं तु णच्चा तं भिक्खं मुणी विवज्जंति ॥824॥
जं पुप्फिय किण्णइदं दट्ठूणं पूप-पप्पडादीणि ।
वज्जंति वज्जणिज्जं भिक्खू अप्पासुयं जं तु ॥825॥

अन्वयार्थ : जो आहार दो दिन का या तीन दिन का है, चलित स्वाद है, जन्तु से युक्त है, अप्रासुक है उसका जानकर मुनि उस आहार को छोड़ देते हैं और फपूंâदी सहित, बिगड़े हुए पुआ, पापड़ आदि देखकर तथा जो अप्रासुक है, छोड़ने योग्य है, मुनि उन सबको छोड़ देते हैं ।

ग्रहण करने योग्य आहार

जं सुद्धमसंसत्तं खज्जं भोज्जं च लेज्ज पेज्जं वा ।
गिहंण्ति मुणी भिक्खं सुत्तेण अणिंदयं जं तु ॥826॥

अन्वयार्थ : जो शुद्ध है, जीवों से सम्बद्ध नहीं है, और जो आगम से विंजत नहीं है ऐसे खाद्य, भोज्य, लेह्य और पेय को मुनि आहार में

लेते हैं ।

सचित्त वस्तु एवं प्रासुक

फलकंदमूलबीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि ।
णच्चा अणेसणीयं ण वि य पडिच्छंति ते धीरा ॥827॥
अन्वयार्थ : फल, कन्दमूल और बीज जो अग्नि में नहीं पकाये गये हैं तथा और भी जो कुछ कच्चे पदार्थ हैं वे खाने योग्य नहीं हैं, उन्हें जानकर वे मुनि उनको ग्रहण नहीं करते हैं ।

आहार योग्य पदार्थ

जं हवदि अणिव्वीयं णिवट्टिमं फासुयं कयं चेव ।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति ॥828॥
अन्वयार्थ : जिसमें से बीज को निकाल दिया है, जिनको पका दिया गया है या जिनके मध्य का सार अंश निकल गया है, जो प्रासुक हैं वे पदार्थ भक्ष्य हैं, उन्हें ही मुनि आहार में ग्रहण करते हैं ।

आहार करने के बाद

वसुधम्मि वि विहरंता पिंड ण करेंति कस्सइ कयाई ।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥800॥
अन्वयार्थ : गोचरीकृत से चर्या करके वे मुनि आहार ग्रहण करते हैं, पुन: आकर प्रतिक्रमण करते हैं, अर्थात् दोष परिहार के लिए क्रियाकलाप करते हैं । यद्यपि कृत-कारित-अनुमोदना से रहित आहार मिला है फिर भी उसके लिए वे यति अतीव शुद्धि करते हैं । वे दिन में एक बार ही आहार लेने से परिमित एक आहारी हैं । पुन: उपवास करके अथवा एक स्थान में पारणा करते हैं ।

ज्ञान शुद्धि

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा ।
णिस्संकिदणिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साहू ॥830॥
अणुबद्ध तवोकम्मा खवणवसगदा तवेण तणुअंगा ।
धीरा गुणगंभीरा अभग्गजोगा य दिढचरित्ताय य ॥831॥
आलीणगंडमंसा पायडभिउडीमुहा अहियदच्छा ।
सवणा तवं चरंता उक्किण्णा धम्मलच्छीए ॥832॥
अन्वयार्थ : वे ज्ञानचक्षु को प्राप्त हुए साधु ज्ञान-प्रकाश के द्वारा परमार्थ को देखने वाले नि:शंकित, निर्विचिकित्सा और आत्मबल पराक्रम से सहित होते हैं । जो तप करने में तत्पर हैं, उपवास के वशीभूत हैं, तप से कृशशरीरी हैं, धीर हैं, गुणों से गम्भीर हैं, योग का भंग नहीं करते हैं और दृढ़ चारित्रधारी हैं । तथा जिनके कपोल का मांस सूख गया है, भ्रकुटी और मुख प्रकट हैं, आँख के तारे चमक रहे हैं, ऐसे श्रमण तपश्चर्या करते हुए धर्मलक्ष्मी से संयुक्त हैं ।

ज्ञान भावना से सम्पन्न साधु

आगमकदविण्णाणा अट्ठंगविदू य बुद्धिसंपण्णा ।
अंगाणि दस य दोण्णि य चोद्दस य धरंति पुव्वाइं ॥833॥
अन्वयार्थ : आगम के ज्ञानी, अष्टांग निमित्त के वेत्ता, बुद्धि ऋद्धि से सम्पन्न वे मुनि बारह अंग और चौदह पूर्वों को धारण करते हैं ।

और विशेषता

धारणगहणसमत्था पदाणुसारीय बीयबुद्धीय ।
संभिण्णकोट्ठबुद्धी सुयसायरपारया धीरा ॥834॥
सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी ।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥835॥

अन्वयार्थ : जो धारण और ग्रहण करने में समर्थ है, पदानुसारी, बीजबुद्धि, संभित्रश्रोतृबुद्धि और कोष्ठबुद्धि ऋद्धिवाले हैं, श्रुतसमुद्र के पारंगत हैं वे धीर, गुण सम्पन्न साधु हैं । जो श्रुतरूपी रत्नद से कर्ण को भूषित करते हैं, हेतु और नय में विशारद हैं, विपुल बुद्धि के धारी हैं, शास्त्र के अर्थ में परिपूर्णतया कुशल हैं, ऐसे श्रमण परमपद के जानने वाले होते हैं ।

ज्ञानमद का निराकरण

अवगदमाणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य ।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू, विणीदा य ॥836॥
उवलद्धपुण्णपावा जिणसासणगहिद मुणिदपज्जाला ।
करचरणसंवुडंगा झाणुवज्जुत्ता मुणी होंति ॥837॥

अन्वयार्थ : मानरूपी स्तम्भ से रहित, उत्सुकता रहित, गर्व रहित, क्रोध रहित, इन्द्रियजित्, मार्दव सहित, आगम के ज्ञानी, विनयगुण सहित, पुण्यपाप के ज्ञाता, जिनशासन को स्वीकार करने वाले, द्रव्य के स्वरूप को जानने वाले, हाथ-पैर तथा शरीर को नियन्त्रित रखने वाले, ध्यान से उपयुक्त ऐसे मुनिराज का ज्ञानमद दूर होता है ।

उज्झन शुद्धि

ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि ।
ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि ॥838॥

अन्वयार्थ : शरीर संस्कार का त्याग, बन्धु आदि का त्याग, सर्व संग का त्याग, राग का अभाव इसका नाम उज्झन शुद्धि है । स्नेह बंध का भेदन करने वाले, अपने शरीर में भी ममता रहित वे साधु शरीर का किंचित् भी संस्कार नहीं करते हैं ।

संस्कार का स्वरूप

मुहणयणदंतधोवणमुव्वट्टण पादधोयणं चेव ।
संवाहण परिमद्दण सरीरसंठावणं सव्वं ॥839॥
धूवण वमण विरेयण अंजण अब्भंग लेवणं चेव ।
णत्थुय वत्थियकम्मं सिरवेज्झं अप्पणो सव्वं ॥840॥

अन्वयार्थ : मुख, नेत्र और दांतों को धोना, उबटन लगाना, पैर धोना, अंग दबवाना, मालिस कराना ये सब शरीर संस्कार हैं । धूप देना, वमन करना, विरेचन करना, अंजन लगाना, तैल लगाना, लेप करना, नस्य लेना, वस्ति कर्म करना शिरावेध करना ये सब अपने शरीर के संस्कार हैं ।

व्याधि के उत्पन्न होने पर

उप्पण्णम्मि य वाही सिरवेयण कुक्खिवेयणं चेव ।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छंति ॥841॥
ण य दुम्मणा ण विहला अणाउला होंति चेय सप्पुरिसा ।
णिप्पडियम्मसरीरा देंति उरं वाहिरोगाणं ॥842॥

अन्वयार्थ : रोग के होने पर, सिर की या उदर के वेदना के होने पर, वे धैर्यशाली मुनि सहन करते हैं किन्तु शरीर की चिकित्सा नहीं चाहते हैं । रत्नत्रय में दृढ़ रहते हैं । वे साधु दुर्मनस्क नहीं होते हैं तथा हित-अहित के विवेक से शून्य भी नहीं होते हैं । वे अनाकुल रहते हैं अर्थात्

किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होते हैं, अब मैं इस रोग का क्या इलाज करुँ? कैसे करूँ ? कहाँ जाऊँ ? इत्यादि प्रकार से धबराते नहीं हैं । वे साधु विवेक शील रहते हुए शरीर के रोग के प्रतीकार से रहित होते हैं । प्रत्युत सभी प्रकार की व्याधियों के हो जाने पर भी धैर्यपूर्वक सहन करते हैं ।

जिन्वचन ही औषधि

जिणवयणमोसहमिणं विषयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।
जरामरणवाहिवेयण खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥843॥
जिणवयणणिच्छिदमदीअ-विरमणं अब्भुवेंतिसप्पुरिसा ।
ण य इच्छंति अकिरियं जिणवयणवदिक्कमं कादुं ॥844॥

अन्वयार्थ : यह जिन वचन ही एक औषधि हैं तो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सुखों का त्याग कराने वाली हैं, सर्वांग में सन्तर्पण का कारण होने से अमृत रूप है, ज्वर आदि सर्व रोगों को तथा उनसे उत्पन्न हुए दु:खों को नष्ट करने वाली है । जिन वचन में दृढ़ निश्चित बुद्धि रखने वाले वे साधु विरतिभाव को धारण करते हैं किन्तु जिन-वचनों को उल्लंघन करके वे विरूद्ध क्रिया करना नहीं चाहते हैं । भले ही प्राण चले जावें किन्तु आगम विरूद्ध क्रिया नहीं करते हैं ।

शारीरिक व्याधि का प्रतिकार

रोगाणं आयदणं वाधि सदसमुच्छिदं सरीरघरं ।
धीरा खणमवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि ॥845॥

अन्वयार्थ : सैकड़ों व्याधियों से व्याप्त शरीर रूपी घर रोगों का स्थान है । वे धीर मुनि इस शरीर में क्षण मात्र के लिए राग नहीं करते हैं अत: उनका प्रतिकार नहीं करते हैं ।

शरीर की अशुचिता

एदं सरीरमसुई णिच्चं कलिकलुसभायणमचोक्खं ।
छाइद ढिड्ढिस खिब्भिसभरिदं अमेज्झघरं ॥846॥
वसमज्जमंस सोणिय पुप्फस कालेज्जसिंभसीहाणं ।
सिरजाल अट्ठिसंकड चम्में णद्धं सरीरघरं ॥847॥
बीभच्छं विच्छुइयं थूहायसुसाणवच्च मुत्ताणं ।
अंसूयपूयलसियं पयलियलालाउलमचोक्खं ॥848॥
काय मलमत्थुलिंगं दंतमल विचिक्कणं गलिदसेदं ।
किमिजंतुदोसभरिदं सेंदणियाकद्दमसरिच्छं ॥849॥

अन्वयार्थ : यह शरीर अपवित्र है नितय ही कलि कलुष का पात्र है, अशुभ है, इसका अन्त्रभाग ढ़का हुआ है, कपास के ढ़ेर के समान है, घृणित पदार्थों से भरा हुआ है और विष्ठा का घर है । वसा, मज्जा, मांस, खून, फुफ्फुस, कलेजा, कफ, नाकमल, शिराजाल और हड्डी इनसे व्याप्त है । यह शरीर रूपी गृह चर्म से ढका हुआ है । घृणित, थूक, नाकमल, विष्ठा, मूत्र, अश्रु, पीव, चक्षुमल से युक्त, टपकती हुई लार से व्याप्त यह शरीर अशुभ है । काय का मल, सिर का मल, दाँत का मल, चक्षु का मल, झरता हुआ पसीना-इनसे युक्त कृमि जन्तुओं से भरित गड्ढे की कीचड़ के समान यह शरीर है ।

शरीर का अशुचिता का चिंतन

अट्ठिं च चम्मं च तहेव मंसं, पित्तं च सहिं सोणिदं च ।
अमेज्झसंघायमिणं सरीरं, पस्संति णिव्वेदगुणाणुपेहि ॥850॥
अट्ठिणिछण्णं णालिणिबद्धं कलिमलभरिदं किमिउलपुण्णं ।

मंसविलित्तं तयपडिछण्णं सरीरघरं तं सददमचोक्खं ॥851॥
एदारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिमपूदियमचोक्खे ।
सडणपडणे असारे रागं ण करिंति सप्पुरिसा ॥852॥
अन्वयार्थ : वैराग्यगुण का चिन्तवन करने वाले मुनि इस शरीर को हड्डी, चर्म, माँस, पित्त, कफ, रूधिर तथा विष्ठा इनके समूहरूप ही देखते हैं । हड्डियों से मढ़ा हुआ, नसों से बंधा हुआ, कलिमल पदार्थों से भरा हुआ,कृमिसमूह से पूरित, माँस से पुष्ट, चर्म से प्रच्छादित यह शरीर हमेशा ही अपवित्र है । दुर्गन्धित, मुर्दा के समान घृणित, अपवित्र, पतन-गलन रूप असार ऐसे शरीर में सत्पुरुष राग नहीं करते हैं ।

उज्झन शुद्धि का उपसंहार

जं वंतं गिहवासे विसयसुहं इंदियत्थपरिभोए ।
तं खु ण कदाइभूदो भुंजंति पुणो वि सप्पुरिसा ॥853॥
पुव्वरदिकेलिदाइं जो इड्ढी भोगभोयणविहिं च ।
'ण वि ते कहंति कस्स वि ण वि ते मणसा विचिंतंति ॥854॥
अन्वयार्थ : गृहवास में जो इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के अनुभव से विषय-सुख थे, उनको छोड़ दिया है वे यदि कदाचित् प्राप्त भी हुए तो भी साधु उनका सेवन नहीं करते हैं । पूर्व के स्नेह पूर्वक भोगे गये जो वैभव भोग और भोजन आदि हैं उनको वे मुनि न किसी के समक्ष कहते हैं और न वे मन से उनका चिन्तवन ही करते हैं ।

वाक्यशुद्धि

भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जए वयणं ।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥855॥
अन्वयार्थ : विनय से शून्य भाषा और धर्म के विरोधी वचन को छोड़ देते हैं; वे सत्पुरुष पूछने पर और नहीं पूछने पर भी वैसा नहीं बोलते ।

लौकिक कथा का निषेध

अच्छीहिंय पेच्छंता कण्णेहिंय बहुविहाइं सुणमाण ।
अत्थंति मूयभूया ण ते करेंति हु लोइयकहाओ ॥856॥
अन्वयार्थ : वे मुनि नेत्रों से देखते हुए अैर कानों से बहुत पुकार को सुनते हुए भी मूक के समान रहते हैं किन्तु लौकिक कथाएँ नहीं करते हैं ।

लौकिक कथा

इत्थिकहा अत्थकहा भत्तकहा खेडकव्वडाणं च ।
रायकहा चोरकहा जणवदणयरायरकहाओ ॥857॥
णडभड मल्ल कहाओ मायाकरजल्लमुट्ठियाणं च ।
अज्जउललंघियाणं कहासु ण वि रज्जए धीरा ॥858॥
अन्वयार्थ : स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा, खेटकर्वटकथा, चोरकथा, जनपदकथा, नगरकथा, और आकार कथाये लौकिक कथाएँ हैं । नटों की कथा, भटों की कथा, मल्लों की कथा, मायाकरों की कथा, धीवरों की कथा, जुआरियों की कथा, दुर्गा आदि देवियों की कथा, बांस पर नाचने वालों की कथा इत्यादि कथाओ में धीर मुनि अनुरक्त नहीं होते हैं ।

विकथाओं का त्याग

विकहा विसोत्तियाणं खणमवि हिदएण ते ण चिंतंति ।
धम्मे लद्धमदीया विकहा तिविहेण वज्जंति ॥859॥

कुक्कुय कंदप्पाइय हासं उल्लावणं च खेडंच ।
मददप्पहत्थवणिं ण करेंति मुणी ण कारेंति ॥860॥
अन्वयार्थ : वे मुनि मन से क्षण मात्र भी विकथा और कुशास्त्रों का चिन्तवन नहीं करते हैं । धर्म में बुद्धि लगाने वाले वे मुनि मन-वचन-काय से विकथाओं का त्याग कर देते हैं । काय की कुचेष्टा, कामोत्पादक वचन, हँसी, वचनचातुर्य, परवंचना के वचन, मद व दर्प से कर ताड़न करना आदि चेष्टाएँ मुनि न करते हैं । न कराते हैं ।

विकथा क्यों नहीं?

ते होंति णिव्वियारा थिमिदमदी पदिट्ठिदा जहा उदधी ।
णियमेसु दढववदिणो पारत्तविमग्गया समणा ॥861॥
अन्वयार्थ : वे निर्विकार अनुद्धत मनवाले, समुद्र के समान गंभीर, नियम अनुष्ठानों में दृढ़व्रती तथा परलोक के अन्वेषण में कुशल श्रमण होते हैं ।

किस प्रकार की कथाएँ करें?

जिणवयण भासिदत्थं पत्थं च हिदं च धम्मसंजुत्तं ।
समओवयारजुत्तं पारत्तहिदं कधं करेंति ॥862॥
अन्वयार्थ : जो जिनागम में भाषित है, पथ्य है, हितकर है, धर्म से संयुक्त है, आगमकथित उपचार विनय से युक्त,परलोक क हितरूप, ऐसी कथाएँ वे मुनि करते हैं ।

उपसंहार

सत्ताधिय सप्पुरिसा मग्गं मण्णंति वीदरागाणं ।
अणयारभावणाए भावेंति य णिच्चमप्पाणं ॥863॥
अन्वयार्थ : वे शक्तिशाली साधु वीतराग देवों के मार्ग को स्वीकार करते हैं और अनगार भावना के द्वारा नित्य ही आत्मा की भावना करते हैं ।

तपशुद्धि

णिच्चं च अप्पमत्ता संजमसमिदीसु झाणजोगेसु ।
तवचरणकरणजुत्ता हवंति सवणा समिदवापा ॥864॥
अन्वयार्थ : वे श्रमण संयम तथा समिति में ध्यान तथा योगों में नित्य ही प्रमाद रहित होते हैं एवं तप चारित्र तथा क्रियाओं में लगे रहते हैं अत: पापों का शमन करने वाले होते हैं ।

अभ्रावकाश योग

हेमंते धिदिमंता सहंति ते हिमरयं परमघोरं ।
अंगेसु णिवडमाणं णलिणीवणविणासयं सीयं ॥865॥
अन्वयार्थ : शीतकाल में परमघोर तुषार के गिरने से सम्पूर्ण वनस्पतियाँ जल जाती है, प्रचण्ड हवा-शीत लहर के चलने से सभी प्राणी समूह काँप उठते हैं, ऐसे समय में परम धैर्य रूप आवरण से अपने शरीर को ढ़कने वाले वे मुनिराज गिरते हुए हिमकणों को, तुषार को सहन कर लेते हैं ।

आतापन योग

जल्लेण मइलिदंगा गिह्मे उण्णादवेण दड्ढंगा ।

चेट्ठंति णिसिट्ठंगा सूरस्स य अहिमुहा सूरा॥866॥
अन्वयार्थ : पसीने से युक्त धूलि से मलिन अंग वाले, ग्रीष्म ऋतु में उष्ण घाम से शुष्क शरीरधारी, कायोत्सर्ग से स्थित शूर मुनि सुर्य की तरफ मुख करके खड़े हो जाते हैं ।

वृक्षमूल योग

धारंधयारगुविलं सहंति ते वादवाद्दलं चंडं ।
रत्तिंदियं गलंतं सप्पुरिसा रुक्खमूलेसु ॥867॥
अन्वयार्थ : वर्षाकाल में सभी मार्ग जल से पूरित हो जाते हैं, गरजते हुए मेघ और घोर वङ्का के शब्दों से दिशाओं के अन्तराल बहिरे हो जाते हैं । उस समय अनेक सर्पों से व्याप्त ऐसे वृक्ष के नीचे वे मुनि खड़े हो जाते हैं । वहाँ पर वायु के झकोरे से सहित सतत् बरसते हुए मेघों की जलधारा को वे मुनि सहन करते हैं ।

परीषह सहन

वादं सीदं उण्हं तण्हं च छुधं च दंसमसयं च ।
सव्वं सहंति धीरा कम्माण खयं करेमाणा ॥868॥
दुज्जणवयण चडयणं सहंति अच्छोड सत्थपहरं च ।
ण य कुप्पंति महरिसी खमणगुणवियाणया साहू ॥869॥
जइ पंचिंदयदमओ होज्ज जणो रूसिदव्वय णियत्तो ।
तो कदरेण कयंतो रूसिज्ज जए मणूयाणं ॥870॥
जदि वि य करेंति पावं एदे जिणवयण बाहिरा पुरिसा ।
तं सव्वं सहिदव्वं कम्माणं खयं करंतेण ॥871॥
अन्वयार्थ : कर्मों का क्षय करते हुए वे धीर मुनि वात, शीत, उष्ण, प्यास, भूख, दंशमशक आदि सभी परीषहों को सहते हैं । दुर्जन के अत्यन्त तीक्ष्ण वचन, निन्दा के वचन और शस्त्र के प्रहार को सहन करते हैं किन्तु वे क्षमा गुण के ज्ञानी मर्हिष मुनि क्रोध नहीं करते हैं । यदि मनुष्य पंचेन्द्रिय को दमन करने वाला होवें तो वह क्रोध आदि से छूट जायेगा । पुन: इस जगत में मनुष्यों पर किस कारण से यमराज रूष्ट होगा ? अर्थात् रूष्ट नहीं होगा । जिनमत से बहिर्भूत कोई मनुष्य यद्यपि पाप करते हैं तो भी कर्मों का क्षय करते हुए मुनि को वह सब सहन करना चाहिए ।

कषाय विजय

लद्धूण इमं सुदणिहिं ववसायविरज्जियं तह करेह ।
जह सुग्गइचोराणं ण उवेह वसं कसायाणं ॥872॥
अन्वयार्थ : इस श्रुत-रूपी निधि को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करके-ऐसा व्यवसाय विशेष करो कि जिससे तुम सुगति के चुरानेवाले इन कषायों के वश में नहीं हो जाओ ।

तप:शुद्धि के स्वामी

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा ।
पंचिंदियत्थविरदा पंचमगइमग्गया सवणा ॥873॥
अन्वयार्थ : पंच महाव्रत धारी, पाँच समितियों से संयत, धीर, पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त, सिद्ध गति को ढूँढते हुए वे श्रमण तप: शुद्धि के करने वाले होते हैं ।

उसी को स्पष्ट करते हैं

ते इंदिएसु पचसु ण कयाइ रागं पुणो वि बंधंति ।
उण्हेण व हारिद्दं णस्सद्दं राओ सुविहिदाणं ॥874॥
अन्वयार्थ : वे मुनि पाँचों इन्द्रियों में कदाचित् भी पुन: राग नहीं करते हैं, क्योंकि सम्यक् अनुष्ठान करने वालों का राग ताप से हल्दी के रंग के समान नष्ट हो जाता है ।

इन्द्रियजय

विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहिं ।
इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं ॥875॥
अन्वयार्थ : विषयों में दौड़ते हुए चंचल, उग्र और भयंकर इन इन्द्रिय रूपी चोरों को चारित्र के उद्यमी मुनियों ने मन-वचन-काय के निग्रह से इन्हें अपने वश में कर लिया है ।

मन के निग्रह का दृष्टान्त

जह चंडो वणहत्थी उद्दामो णयररायमग्गम्मि ।
तिक्खंकुसेण धरिदो णरेण दिढसत्तिजुत्तेण ॥876॥
तह चंडो मणहत्थी उद्दामो विषयराजमग्गम्मि ।
णाणंकुसेण धरिदो रुद्धो जह मत्तहत्थिव्व ॥877॥
ण च एदि विणिस्सरिदुं मणहत्थी झाणवारिबंधणिदो ।
बद्धो तह य पयंडो विरायरज्जूहि धीरेहिं ॥878॥
अन्वयार्थ : जैसे जिसके गण्डस्थल से मद झर रहा है और जो अत्यन्त कुपित हो रहा है ऐसे वनहस्ती यदि सांकल आदि बन्धन से रहित हो गया है और नगर के राजमार्ग में दौड़ रहा है तो दृढ़ शक्तिशाली मनुष्य तीक्ष्ण अंकुश के द्वारा उसे अपने वश में कर लेता है । उसी प्रकार प्रचण्ड नरक आदि दुर्गतियों में मनुष्यों को डाल देने में तत्पर ऐसा मन रूपी हाथी उद्दण्ड है-संयम आदि सांकलों से रहित है और रूप रस आदि पंचेन्द्रियों के विषय रूपी राजमार्ग में दौड़ रहा है, उसको पूर्वापर विवेक के विषयभूत ज्ञानरूपी अंकुश के द्वारा मुनि अपने वश में कर लेते हैं ।

उसी प्रकार से और भी

धिदिधणिदणिच्छिदमदी चरित्त पायार गोउरं तुंगं ।
खंतीसुकदकवाडं तवणयरं संजमारक्खं ॥879॥
अन्वयार्थ : धैर्य से अतिशय निश्चित विवेकरुपी परकोटा है, चारित्ररुपी ऊँचे गोपुर (कूट) हैं, क्षमा और धर्म ये युगल फाटक हैं और संयम जिसका कोतवाल है, ऐसा यह मुनियों का तपरूपी नगर है ।

ध्यान हेतु परकोटे सहित नगर की रचना

रागो दोसो मोहो इंदियचोरा य उज्जदा णिच्चं ।
ण च यंति पहंसेदुं सप्पुरिससुरक्खियं णयरं ॥880॥
अन्वयार्थ : राग, द्वेष, मोह और उद्यत हुए इन्द्रियरूपी चोर हमेशा ही सत्पुरुषों से रक्षित तपरूपी नगर को नष्ट करने में कभी भी समर्थ नहीं होते हैं ।